सह सयाने एकमत

सहु सयाने एकमत

(समन्वय-सूत्र)

जैन सूक्तों के साथ बौद्ध, वैदिक, कुरान, बाइबिल, संस्कृत-
वाङ्मय, हिन्दी-काव्य, महात्मा गांधी एवं
वैदेशिक विचारकों के सूक्तों का

मुनि श्री छत्रमलजी

सम्पादक

डॉ० छगनलाल शास्त्री एम० ए० (त्रय), पी-एच० डी०

प्रकाशक

आदर्श साहित्य संघ, चूरु (राजस्थान)

पुस्तक

हु सयाने एकमत

लेखक

मुनि श्री छत्रमलजी

सम्पादक

डॉ० छगनलाल शास्त्री,
एम. ए. पी-एच. डी.

○ प्रथम प्रकाशन

अगस्त १९६९

○ प्रकाशक

आदर्श साहित्य संघ, चुरु
(राजस्था

○ मूल्य

बिना जिल्द ३)७५
सजिल्द ४)२५

○ मुद्रक

रामनरायण मेड़तवाल
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस,
राजा की मण्डी, आगरा–२

समर्पण

नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत् के इसी आस्था-सूत्र के अनु-
सार जिन्होंने मुझे शैशवावस्था मे ही चिन्तन, मनन एवं
अनुशीलन मे अग्रसर होने हेतु भ्रमर-वृत्ति
में शिक्षित-दीक्षित किया।

तथा

जिनके समन्वय और ऐक्य के अभियान ने धार्मिक जगत्
को एक नयामोड़ दिया। जो मेरी भ्रमर-वृत्ति
के पल्लवित, पुष्पित, और विकसित
होने मे प्रेरक रहे व है,

जिसका परिणाम

'सहु सयाने एकमत'

के रूप मे प्रस्तुत है,

उन मेरे आराध्यदेव

आचार्य श्री कालुगणी

एव

आचार्य श्री तुलसीगणी

को

सभक्ति,

विनयाभिनत

—मुनि छत्रमल

लेखक के शब्दों में....

मेरे जीवन के प्रथम दशक के आसपास की बात है, महाभारत पढ़ते-पढ़ते एक जगह मैंने देखा—जब भीष्मपितामह शर-शय्या पर लेटे थे, तब प्रबल विरोधी, युद्धरत कौरव और पाण्डव पारस्परिक भेद-भाव भूलकर एक साथ बैठे तथा पितामह के मुँह से उपदेश सुना, जो महाभारत में सुरक्षित है। तभी से भेद में अभेद खोजने की वृत्ति मेरे मन में घर कर गई और वही समन्वय के वायु-मण्डल में आज उच्छ्वसित हो रही है।

वैसे तो मैंने अपने मुनि-जीवन के तीन दशक पार कर दिये। व्यतीत होते दशकों के साथ-साथ विचार और व्यवहार में भी कई ज्वार आये और गये। जहाँ पहले दशक में मैंने और मेरे सहपाठी मुनियों ने याद किया था—"**अयमेव अट्ठे सेसे अणट्ठे**[1]"—यही अर्थ सही है, शेष व्यर्थ है, वहाँ दूसरे दशक में मैंने सीखा—"**वादे वादे जायते तत्व-बोधः**"—वाद-विवाद से तत्व-बोध होता है।

तीसरे दशक में यह चरितार्थ हुआ—

मजहबी बहस मैंने की ही नहीं,
फालतू अक्ल मुझ में थी ही नहीं।

अब रही चालू दशक की बात। जब मैं देखता हूँ—सर्व-धर्म-समभाव, सर्व-धर्म-सद्भाव आदि न जाने किन-किन संकरी-चौड़ी शब्दों की पगडंडियों पर लड़खड़ाता आज का जन-मानस भावात्मक एकता पर आ टिका है। यह एक निश्चित तथ्य है कि यदि दृष्टि में भेदात्मकता न हो तो भेद में अभेद, द्वैत में अद्वैत, विविधता में समरसता ढूंढी जा सकती है। "**सम्मदिट्ठिस्स सम्मसुयं मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छा सुयं**[2]"—दृष्टि सही है तो सारा ज्ञान-विज्ञान सही है। दृष्टि में विपर्यास है तो ज्ञान-

---

१. भगवती सूत्र, २. नन्दी सूत्र

विज्ञान सही नहीं है। यद्यपि तीनों ही दशकों में **'अयमेव अट्ठे सेसे अणट्ठे'** का चिरन्तन सहारा रहा है। रहा ही नहीं, प्रत्युत उत्तरोत्तर बढ़ता भी रहा है, तथापि इस उपक्रम का प्रमुख उद्देश्य यह चिन्तन-क्रम रहा है कि एक दूसरे के आसपास बहने वाली संस्कृति की सरिताएं एक दूसरे से कितनी और कैसे प्रतिबिम्बित होती रही हैं।

★ शुभ संकेत

यह एक शुभ संकेत ही है कि बहुत से विचारकों ने एक दूसरे की अच्छाई को अपनाने में विशाल हृदय का परिचय दिया। हाँ, इतना अवश्य है कि कुछ व्यक्तियों ने उद्गम-स्थलों का नामोल्लेख करके अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की और कुछ एक ने नहीं भी, तो कुछ एक अपनी छाप लगाकर 'आचारस्तेन' बनते भी नहीं चूके। **'पुढो छंदा इह माणवा'**[1] अलग-अलग धुनवाले मनुष्य जो होते हैं। फिर भी इतना असन्दिग्ध है कि अच्छाई अपनाने की लालसा तो मन में रही ही। उदाहरणस्वरूप मधु-बिन्दु के रूपक को लीजिए, जो सरल, सरस और सुपाच्य होने के साथ-साथ हर व्यक्ति के सामने 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की अभिव्यक्ति करनेवाला भी है। पर इसके उद्गम-स्थल के लिए तो 'इदमित्थम्' कही जाय न सोई[2]'—कहना ही मुझे उचित लगा। जी चाहता है, जैन, बौद्ध, वैदिक प्रभृति संस्कृतियों के साहित्य का शोध कर कुछ ऐतिहासिक तथ्य उपस्थित करूं पर—'सन्-संवतों के फेर में बर्बाद होता वक्त है' की सूक्ति मेरी स्मृति से ओझल नहीं है। फिर भी थोड़े से तथ्य रखने का लोभ-संवरण भी नहीं कर सकता।

वैदिक परंपरा के विशालकाय ग्रन्थ महाभारत के स्त्री-पर्व, अध्याय ५-६ में जहाँ यह रूपक है, वहाँ श्वेताम्बर जैन परंपरा में संघदास गणीकृत वसुदेव हिंडी (ई० ५वीं शती) में भी यह प्राप्त है। इसी प्रकार दिगम्बर जैन परंपरा के अमितगति आचार्य के 'धर्म-परीक्षा' (ई० १०१७) ग्रन्थ में यह है।

---

१. आचारांग सूत्र
२. रामचरितमानस

श्वेताम्बर जैनाचार्य हेमचन्द्र के स्थविरावलीचरित्र (१२ वी शती) में भी यह सुरक्षित है। और भी जैन ग्रन्थो मे जहाँ अनेक स्थलो मे अनेक रूपो मे यह निखरता रहा है, वहाँ बौद्ध वाङ्मय के अवदानो मे ही नही, अवदानो के चीनी भाषा के अनुवादो मे भी यह बहुलतया उपलब्ध होता है। यदि पाश्चात्य साहित्य को टटोले तो वहाँ बहुत-सी भाषाओ मे इसका अनुवाद मिलता है। पीरूकर्ट नामक सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान ने तो इसको कविता मे भी प्रस्तुत किया। फलत॰ जर्मनी का कोई भी बाल-विद्यार्थी इस कथा मे अपरिचित हो, ऐसा नही माना जाता।

वस्तुत. यह कथा जैन, बौद्ध और वैदिक वाङ्मय मे ही नही, अपितु इस्लाम, ईसाई और यहूदी साहित्य मे भी समान रूप से प्रवाहित हुई है। इस प्रसंग पर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की निम्नांकित पंक्तियाँ स्मरण हो आती है:—

> "इस बात की साक्षी प्रकृति भी है, अभी तक सब कहीं।
> होता प्रभाकर पूर्व से ही उदित, पश्चिम से नहीं॥"[१]

ठीक ऐसी ही स्थिति सुभाषितो की है। वहा तो साम्य उन्मुक्त रूप मे उभरा है। श्रमण-संस्कृति और वैदिक-सस्कृति का जहाँ प्रश्न है, वहाँ तो उनके उद्भव के हेतु भी लगभग एक से रहे है। आर्हती-सस्कृति के सूत्रो का हेतु जहाँ – "**सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए**[२]" है, वहाँ "**देस्सेत्थ भिक्खवे धम्मं आदिकल्लाणं मज्झेकल्लाणं परियोसनकल्लाणं**" है। उसी प्रकार वैदिक सस्कृति मे भी "**अहिंसार्थाय भूतानां, धर्म-प्रवचनं कृतम्**[३]" के रूप मे वैसा ही प्रयोजन दृष्टिगत होता है, अब रहा समता का प्रश्न। वह भी देखिए, कैसे तद्रूप, तद्भव और तत्सम है—

---

१. भारत-भारती

२. प्रश्नव्याकरण सूत्र

३. महाभारत शान्तिपर्व १०९.१५

स्थानांग सूत्र (४.६७४) में जहाँ (केवली) '**जहा वाई तहा कारी**" कहा है, वहाँ थेरगाथा में "**यथावादी तथाकारी अहू बुद्धस्स सावको**" के रूप में निरूपण किया है। वैदिक परंपरा में '**चित्ते वाचि क्रियायां च महतामेकरूपता**" ऐसा विवेचन है। और भी '**धम्मंचर**' (उत्तराध्ययन), **धम्मंचरे** (धम्मपद १३.५), '**धर्मंचर**' (तैत्तिरीयोपनिषद्), '**उट्ठिए नो पमायए**' (आचारांग), '**उतिट्ठे न पमज्जेय**' (बौद्ध), '**उत्तिष्ठत जाग्रत**' (वैदिक) आदि के रूप में उसका विस्तार हम देखते हैं। इतना ही नहीं, उसका रूप और भी निखरते-निखरते कैसे निखरा है, देखिए—प्रश्नव्याकरण सूत्र में आया "**सच्चं खु भागवं**', बौद्ध परम्परा में '**सच्चं वे अमता वाचा**' और वैदिकपरंपरा में '**सत्यं ब्रह्म**' है। आज के युग में सत्य नारायण होता-होता गांधी वाङ्मय में तो "**सत्य ही राम है, नारायण है, ईश्वर है, खुदा है, अल्लाह है, गोड (God) है**"—बन गया।

अब जरा काव्य-साहित्य की भी चर्चा करें। गुरू के कठोर अनुशासन के लिए उत्तराध्ययन सूत्र में दो पद्य आते हैं—"**हियं विगयभया बुद्धा, फरुसंपि अणुसासणं।**" तथा "**वेसं तं होइ मूढाणं, खंति सोहिकरं पयं।**" इन्हीं के समकक्ष भामिनी-विलास में "**रोषोऽपि निर्मलधियां रमणीय एव। काश्मीरजस्य कटुताऽपि नितान्तरम्या॥**" तथा कादम्बरी में "**गुरु-वचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य।**" ऐसा वर्णन है। परस्पर कितना क्या साम्य है, यह पाठकों के सामने स्पष्ट है।

संस्कृत-काव्यों की तरह हिन्दी-काव्यों में भी स्थान-स्थान पर इस प्रकार की सूक्तियां प्राप्त होती हैं। जैसे स्थानांगसूत्र के '**खमासूरा अरिहंता**', आचारांग सूत्र के '**जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ**', तथा सूत्रकृतांग सूत्र के '**आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खो**' का दिनकर, गुप्त और प्रसाद मानो अपने काव्यों में अनुवाद-सा ही करने लगे—

> "**क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो।**
> **उसको क्या जो दन्तहीन विषरहित विनीत सरल हो॥**"[1]

---

१. कुरुक्षेत्र

"धर्म के सम्बन्ध में नृप और रक समान है।"[1]

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न हैं, इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिला सके, यह विडम्बना है जीवन की॥"[2]

ये वे प्रतिबिम्ब है, जो अपने आप मे बहुत स्पष्ट है। थोड़ा और आगे बढ़े—

"तिण्णो हुसि अण्णव मह, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए, समय गोयम मा पमायए॥"

मैं नही चाहता, उत्तराध्ययन के इस पद का अपनी भाषा मे भावार्थ लिखूँ पर चाहूगा, दिनकर की भाषा मे ही रख दूँ—

"आकर इतना पास, फिरे वह सच्चा शूर नहीं है।
थककर बैठ गये क्यों भाई, मंजिल दूर नही है॥"

अब एक दो संदर्भ कुरान और बाइबिल के भी अप्रासंगिक नही होंगे। दशवैकालिक सूत्र में साधक को निन्दा से बचने के लिए कहा है—"पिट्ठिमंस न खाइज्जा।" इस सम्बन्ध मे कुरान मे जिक्र है, उसे उसी रूप मे कहना ठीक होगा। वह यों है—"एक दूसरे की गीबत—पीठ पीछे निन्दा न करो ...... क्योंकि यह अपने मुर्दा भाई का मांस खाने जैसा है।" (स० हुजुरत ४९ पृष्ठ ७४०)

बृहत्कल्प सूत्र मे एक प्रसग आता है—"एक साधु के किसी दूसरे साधु से कलह हो गया हो तो वह उससे क्षमा-याचना किये बिना स्वाध्याय, विहार अर्थात् साधु-चर्या का कोई भी कार्य न करे।" बाइबिल के एक संदर्भ मे कहा है—"तू यदि पूजा की सामग्री लेकर मेरे द्वार पर—गिरजे के द्वार पर आ गया और बाद मे तुझे याद आया कि तेरे पड़ोसी मे मनमुटाव है तो पूजा की सामग्री को द्वार पर रखकर लौटकर जा और उससे क्षमा-याचना करके वापिस आकर मेरी पूजा कर।" (पहाड़ी उपदेश)

---

१. रंग मे भंग। २. कामायनी

ये हैं एक दूसरे के समीप बहने वाली धाराओं में प्रतिविम्बित होने वाले विम्बों की झांकियां। वस्तुतः बात यह है—सुभाषित किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं, मैं तो यहाँ तक पूछना चाहूँगा कि मार्क्स के 'धर्म अफीम है' का संकेत महावीर के "**एसो वि धम्मो विसओववन्नो हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।**" का ही धुंधलासा चित्र नहीं तो और क्या है ?

☆ भेद में अभेद

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में द्वैतवाद, अद्वैतवाद, शून्यवाद, क्षणिकवाद, जड़वाद, क्रियावाद, ज्ञानवाद प्रभृति वादों ने उद्भूत होकर मानव के मानस में आपाततः भेद परकता का बीजारोपण किया। दर्शन के क्षेत्र में, यदि तटस्थ बुद्धि से सोचा जाय तो यह प्रतीत होगा, स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के अपेक्षामूलक निरूपण-क्रम ने वास्तव में मानवतावाद को पल्लवित, पुष्पित और विकसित बनाया।

वैदिक, बौद्ध आदि परंपराओं की चर्चा न कर यदि जैनों को ही लें तो उनमें भी क्या भेद-परकता कम है। साधना पद्धति एवं विचार दर्शन में अनेक भेद खड़े हैं।

परंतु प्रस्तुत उपक्रम भेद खोजने का नहीं, उसका तो मूल लक्ष्य अभेद का है। वस्तुतः अभेद की यह स्थिति है कि विभिन्न परंपराओं और संस्कृतियों के वाङ्मय पद्य के पद्य ही नहीं, अपितु सन्दर्भ के सन्दर्भ परस्पर मिलते-जुलते प्राप्त होते हैं। मैं तत्तत् विषयों के जिज्ञासुओं से विनम्र अनुरोध करूँगा, वे उत्तराध्ययन और धम्मपद, उत्तराध्ययन और महाभारत, रायपसेणीयसुत्त तथा दीघनिकाय का पयासी सुत्त, निशीथसूत्र व विनयपिटक का तुलनात्मक अनुशीलन करें। मेरा जो भी यत्किञ्चित् अध्ययन और अनुभव है, उसके आधार पर स्पष्ट कह सकता हूँ कि मुझे तो आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के निम्नांकित पद्य की स्थिति सर्वत्र प्रतीत होती है—

> **"उदधाविव सर्वसिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयिनाथ दृष्टयः।**
> **न च तासु भवानुदीक्ष्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥"**

फिर भी इतना कहना तो अप्रासांगिक नहीं होगा कि कई नदियां ऐसी

भी है, जो ऊपर से दीखने मे भिन्न-सी प्रतीत होती है पर मूल को पकड़े तो तत्त्व साम्य या समन्वय से भरा ही सिद्ध होगा। जैसे जैन दर्शन मे जो स्थान आत्मार्पण का है, वही अन्य दर्शनो मे ईश्वरार्पण का रहा है, जहाँ सब कुछ ईश्वर को ही समर्पण कर, फलाशसा, अहंवृत्ति और नैराश्य से बचकर सुख को सास लेने का प्रयत्न किया गया। वही प्रयत्न आत्मार्पण की भावना मे सन्निहित है, ऐसा मेरा अभिमत है। उदाहरणार्थ—"**आयरिय पाया पुण अप्पसन्ना अबोहि आसायण नत्थि मोक्खो**" मे और "**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**" मे तथा "**आरूग्ग बोहि लाभं सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु**" मे और "**ईश्वर-प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा**" मे क्या वस्तुतः मौलिक अन्तर है? अन्तर यदि कुछ है तो केवल यही है ?— एक का घोष है—'**अप्पा सो परमप्पा**' जन से जिन, वहाँ दूसरे का उद्गान है—'**त्वमेव सर्वं मम देवदेव**'।

प्रस्तुत विवेचन द्रोपदी के चीर की तरह लम्बा हो रहा है, पर कई जगह कुछ लम्बापन भी अच्छा हुआ करता है। अत एक बात और कह दूँ, कई बार मन मे आता है—"**सव्वेसि जीवियं पियं**" और "**जीवस्स हिंसा न कायव्वा**" मानने वालो ने भी औत्सर्गिक और आपवादिक के बहाने संघ-हित और शासन-प्रभावना के नाम पर जहाँ अहिंसा को दूषित बनाया, वहाँ क्या ये भी उसी के तो प्रतिबिम्ब नही है, जहाँ "**न हिंस्यात् सर्वभूतानि**" मानने वालो के भी "**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति**" तथा "**नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन**" जैसे उद्गार प्रस्फुटित हुए। अथ च '**हर जहूर में रब का नूर**' देखने वालो ने भी तो काफिर को मारने में न जाने क्या क्या नहीं माना।

> "**और वस्तु में मेल हुवै, पर दया मे नहीं हिंसा रो मेल।**
> **पूरब ने पच्छिम रो मारग, किण विध खावे मेल ॥**"[1]

अहिंसा के परम पुजारियो के ऐसे दृढ स्वर भी यत्र तत्र सुनने में आते

---

१. आचार्य भिक्षु

हैं। इतना सब कुछ होते हुए चाहे स्तुतिपरक सोचूँ या स्थितिपरक, मेरा जीवन-सूत्र तो यही रहा है—

"समियंति मन्नमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया होइ उवेहाए।" यदि दृष्टि में विवेक है, तो मेल दीखने वाले तत्वों में भी मेल खोज लिया जा सकता है। अतः मैं मेरे प्रिय पाठकों से अनुरोध करूंगा कि वे **"हंसो हि क्षीर-मादत्ते, तन्मिश्रा वर्जयत्यपः"** के अनुसार नीर-क्षीर-विवेकी बनें।

★ उत्पत्ति की कहानी

एक बार एक कुशल व्याख्याता और प्रतिभाशाली मुनिजी का प्रवचन सुनने का प्रसंग आया। व्याख्या, प्रसंग में बहुत से दार्शनिकों और मनीषियों के विचार, सूक्तियों के माध्यम से पर्याप्त रूप मे आये। पर महावीर का कहीं नाम भी नहीं आया। यह मुझे कुछ अखरा। मैंने व्याख्यान के बाद व्यंग्य में उनसे प्रश्न किया—महावीर ने भी तो कुछ कहा होगा? वे गलती पर सहमते से बोले—तुम्ही बताओ क्या कहा? क्यों, है कोई व्यवस्थित तुलना त्मक संकलन? मैं मौन था, इस टोह में लगा कि ऐसी कोई पुस्तक मिले, जिसमें इस अपेक्षा की पूर्ति हो। खूब खोजने के बाद अनुभव में आया—तुलनात्मक तो दूर रहा, विशालकाय सूक्ति-ग्रन्थों में भी जहाँ साधारण से साधारण विचारक के विचार संकलित हैं, वहाँ महावीर का नाम तक नहीं। बस इस दुहरी चोट से व्यथित होकर इस ओर लगा, जिसका परिणाम सामने है। इस दुहरी मनोव्यथा ने उन दिनों मुझे इतना व्यस्त बना दिया कि **'सर्वं विष्णुमयं जगत्'** की तरह **'सर्वं सूक्तिमयं जगत्'** सा प्रतीत होने लगा। **'सुत्ते वा जागरमाणे वा'** में भी वही धुन रहने लगी।

एक बार सायं समय कुरान पढ़ रहा था। उसमें एक जगह आया—तुम किसी के दोष मत ढूंढ़ो। इसकी समानता वाला वाक्य आगम या तत्समकक्ष ग्रन्थों में कहां क्या मिलेगा, लगा इसी टोह में। पर पल्ले पड़ी निराशा। बस इसी निराशा में रात को सो गया। पश्चिम निशा में स्वप्न आया, इतनी क्या चिन्ता है? सामने पड़ा जो है—**'न सिया तोत्तगवेसए'**। मैं चौंका और निद्रा भंग हुई। सोचने लगा, पद तो उपयुक्त ही दीखा, पर है

कहाँ का ? किन्तु जगत्-साक्षी के बिना साक्षी ढूंढू भी कैसे ? सुबह धुंधला-सा प्रकाश होते ही लगा पुस्तकें टटोलने। पहले पहल हाथ आया उत्तराध्ययन। वहाँ प्रथम अध्ययन मे ही मिल गया—"न सिया तोत्त गवेसए।" अर्थात् छिद्रान्वेषी मत बनो। तब कही सुख की सास ली और अनुभव हुआ, शोध-कर्त्ता का ही नही, अपितु छद्मस्थ का हर कार्य दृढ सकल्प और तल्लीनता की अपेक्षा रखता है। छोटे से छोटा कार्य भी साधना चाहता है।

अन्त मे मुझे न तो **"नहि वन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसवन्वेदनाम"** जैसे पाठको को कुछ कहना है, और नही "जाके पैर न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई" जैसो को। किन्तु **"विद्वानेव विजानाति विद्वज्जन-परिश्रमम्"** जैसे सुज्ञजनो को इतना ही कहना है कि मेरे जैसो के लिए दुःसाध्य या श्रम-साध्य कार्य, जो सुसाध्यता के द्वार पर पहुँच सका, उसका सारा श्रेय युगपुरुष, आचार्यचरण श्री तुलसी के वरद आशीर्वाद और वयोवृद्ध मुनिश्री सोहनलाल जी के चिरकालीन सतत सान्निध्य को ही है। इसमे मुनिश्री नगराजजी (चुरू) का सहकार भी मेरी स्मृति से बाहर नही है। अतः मै ही नही अपितु इस उपक्रम का उपयोग करने वाले सभी इनके चिरऋणी रहेंगे। **'सति निव्वाणमाहियं'**—शान्ति ही निर्वाण है—इसी शुभाशसा के साथ—

—मुनि छत्रमल

·: ☼ :·

सम्पादक के शब्दों में....

व्यष्टि और समष्टि—जीवन के दो पहलू है। नितान्त व्यष्टिपरक जीवन सर्वथा आत्म-सापेक्ष होता है और समष्टिपरक जीवन आत्म-सापेक्षता पूर्वक पर-सापेक्ष। व्यष्टिपरक जीवन में परनिरपेक्षता रहती है, इसलिए वह अनुभूति प्रधान होता है, अभिव्यक्ति का उसमे कम से कम स्थान रहता है। सामष्टिक जीवन अनेक व्यष्टियो या व्यक्तियो का समवेत रूप है। उसमें पारस्परिकता होती है। पारस्परिकता का आधार अभिव्यक्ति है। जहा मानव वैयक्तिकता से आगे बढ समष्टि या सामाजिक नेता है। जीवन मे पदार्पण करता है, नैश्चयिक सत्य का परिवेश धारण करयही वाङ्मय के प्रादुर्भाव की कहानी है, जिसकी विकास भूमि समाज है।

वैयक्तिक जीवन या साधना तो सर्वथा सत्य पर आधृत है ही, समष्टि या समाज के जीवन मे भी सत्य का बहुत बड़ा स्थान है। उसी की नींव पर जीवन का प्रासाद टिका है। सत्य अपने आप मे पूर्ण है, एक-रूप है। उसमें द्वैध के लिए स्थान नहीं, पर उसके निरूपण का क्रम एकसा नहीं होता। रुचि, स्थान, पात्र, क्रम आदि अनेक ऐसे हेतु हैं, जो सत्य के कलेवर को भिन्न-भिन्न रूप मे उपस्थित करते है। यदि दृष्टि केवल रूप मे अटक जाय तो सत्य नही मिलता। केवल देह मिलता है, आत्मा नही। अतएव निश्छल जीवन के धनी, सत्वशील पुरुष रूप या वेष मे नही उलझते, वे अन्तरतम को पकडते हैं।

क्या धार्मिक साहित्य, क्या काव्य-कृतिया—सर्वत्र सत्य एक ही है। केवल उसका बाह्य परिवेश भिन्न है। कही आदेश, उपदेश, परामर्श या परिधान उसके चारो ओर छाया है, कही कलात्मक सौन्दर्य की आभा। सभी की अपनी उपादेयता है। इसका स्वीकार सामष्टिक जीवन मे पार-

। करता है। क्योंकि वहाँ दृष्टि मूल पर

सत्य के मौलिक ऐक्य के बावजूद केवल बाहरी रूपभेद के आधार पर, जो वस्तुतः गौण है, विचार-भेद क्यों पनपता है ? यह एक प्रश्न है। इसका सीधा समाधान यह है, जहां व्यक्ति-विशेष का स्वार्थ असीमित रूप में उभार में आता है, वहां वह उसकी पूर्ति के लिए भेद-बुद्धि का सर्जन करता है। जन-साधारण तो अनुगामी है, प्रखर मेधावी उसे अपनी चतुराई या चालाकी से चाहे जिधर मोड़ देते हैं, है तो यह प्रवञ्चना, पर होती है, उपाय क्या ? परिणामतः सामष्टिक या सामाजिक जीवन में दरारें पड़ने लगती हैं; जो निःसन्देह एक अभिशाप है।

सामाजिक जीवन उतना ही सुखी होगा, जितना वह समता, एकता, समन्वय और आत्मीयता लिये चलेगा। इनसे जितना दूर वह जायेगा; दुःख, निराशा और चिन्ता उसके निकट आयेगी। आज कुछ ऐसी ही स्थिति पनप रही है, जिसका निवारण अति आवश्यक है।

जब जब भी ऐसा होता रहा है, महापुरुष इसके अपाकरण के लिए, जन-जन को समता और समन्वय के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए यत्नशील रहते रहे है। फलतः वातावरण में परिष्कार भी आता रहा है, पर समय पाकर पुनः उसमें मन्दता आ जाती है। क्योंकि मानवीय दुर्बलताएं कुछ ऐसी हैं ही। तब फिर उत्क्रान्तचेता महापुरुष उसे मिटाने का बीड़ा उठाते हैं।

आज के वैषम्यपूर्ण वातावरण में राष्ट्र के महान् सन्त, युग-पुरुष आचार्य श्री तुलसी जैसे महापुरुष सर्व-धर्म-सद्भाव, भावात्मक एकता का अभिप्रेत लिये समन्वय, सामंजस्य और ऐक्य के मार्ग को प्रशस्त करने में लगे हैं, जो सर्वथा स्तुत्य है। वह केवल ...रत के लिए ही नहीं, समग्र विश्व के लिए सौभाग्य का ... के नागरिक धर्म, जाति, राष्ट्र, भाषा और वर्ण के ...नवत के आदर्श को अपनायेंगे।

यह नितान्त वाञ्छनीय है कि जन-जन मे समता, समन्वय, मैत्री और एकता की भावना फैले। पर इसके लिए सबसे पहले एक वैचारिक पृष्ठ-भूमि चाहिए। क्योंकि कर्म का बीज विचार मे है। जैसी विचार-निष्ठा होगी, तदनुरूप कर्म का प्रस्फुटन होगा। समन्वय और समतामूलक व्यवहार अपने टिकाव के लिए वैसी भूमिका चाहते हैं, जो एतन्मूलक विचारों से बनी हो।

यह बहुत हर्ष का विषय है कि मुनि श्री छत्रमलजी का प्रस्तुत उपक्रम इस विराट् उद्देश्य की पूर्ति का अन्यतम साधन है। मुनि श्री छत्रमलजी बहुश्रुत मनीषी है। माधुकरी उनकी वृत्ति है। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता वक्ता व लेखक हैं। जैन वाङ्मय तो उनका अपना विषय है ही, अन्यान्य धर्म-शास्त्रो के भी वे प्रौढ विद्वान् है। एक परिव्राजक—परिव्रजनशील—श्रमणशील मुनि होने के नाते उन्होंने जीवन मे बहुमूल्य अनुभव प्राप्त किये हैं। सत्य का केवल सैद्धान्तिक ही नहीं, व्यावहारिक पक्ष भी उन्होंने परखा है। ज्ञान के साथ अनुभूतियों का मेल सोने में सुगन्ध जैसा होता है।

मुनिश्री ने विश्व के महत्वपूर्ण वाङ्मय का आलोडन कर 'सहु सयाने एकमत' नामक इस ग्रन्थ मे उन सूक्तियो का तुलनात्मक आकलन किया है, जिनका जीवन से सीधा सम्बन्ध है। जैन, बौद्ध और वैदिक वाङ्मय की सूक्तियो को उन्होने विषय-विभाजन पूर्वक उपस्थित किया है, जिसकी अपनी विशेष उपयोगिता है। यदि मननपूर्वक इस सूक्ति समुच्चय का अनुशीलन किया जाय तो निःसन्देह जीवन मे सहसा एक परिवर्तन आ सकता है। यही कारण है, सुभाषितो या सूक्तियो का साहित्य में बहुत बडा महत्व है।

मुनि श्री का यह आकलन जीवन के दार्शनिक, सामाजिक नैतिक, व्यावहारिक आदि सभी पहलुओ से सम्बद्ध है। यह गम्भीर भी है, सरल भी है। अनुसन्धित्सु सुधीजन इसका आधार लेकर अपने अनुसंधान कार्य मे जहाँ एक गति पा सकते हैं, वही जन साधारण अपने दैनन्दिन जीवन मे सत् की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा ले सकते हैं। उपदेष्टाओ और प्रवक्ताओ

के लिए इसमें पुष्कल सामग्री है ही। श्रोताओं को सन्मार्गोपदेश करने में ऐसी सूक्तियों का प्रयोग निःसंदेह एक प्रभाव पैदा करता है।

मुनि श्री एक तितिक्षु संत हैं। साथ ही साथ एक जिज्ञासु मनीषी भी। तितिक्षा जिज्ञासा का सहारा पा द्विगुणित ओजस्विनी हो जाती है। ओजस्विता सत्कर्म से जुड़ जाती है, तब वह कर्म एक अनूठा निखार पाता है। मुनिश्री ने प्रस्तुत प्रणयन में अनवरत, अथक श्रम किया है, उसे अनुसन्धित्सु विद्वान् ही जान सकते हैं। जैन, बौद्ध और वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त इस्लाम और ईसाई मत, काव्य-साहित्य, गांधीवाद आदि का भी उन्होंने गहराई से अनुशीलन किया है, जो प्रस्तुत ग्रन्थ से स्पष्ट है। जो कुछ उन्होंने उपस्थित किया है, वह सर्व-समर्थित सत्य का वह रूप है, जो व्यक्ति और समाज में परिव्याप्त संकीर्णताओं का उच्छेद करने वाला है।

मुनि श्री ने अपने ग्रन्थ का 'सहु सयाने एकमत' जो नाम रखा है, वास्तव में बहुत ही उपयुक्त नाम है। क्योंकि जो सयाने, गंभीरचेता, बुद्धिशील चिन्तक होते हैं, वे भेद की बातों को लेकर झगड़ते नहीं, वे तो ऐक्य और सामंजस्य-पूर्ण तथ्यों को आगे रखते हुए एकता, मेल तथा समन्वय को बढ़ाने का यत्न करते हैं। अतएव उनमें मत-द्वैध नहीं, मतैक्य होता है। भेद मूलकता को लेकर लड़ते वे हैं, जो तत्त्वतः सयाने नहीं हैं। जिनमें विचारशीलता और सही दृष्टि नहीं है।

अस्तु—यदि जिज्ञासु और सुज्ञ पाठकों ने इसे तन्मयता से पढ़ा, जीवन में संजोया तो एक ऐसे समाज, जो समरसता, भ्रातृ-भाव, मैत्री और सौहार्द पर टिका हो, की निष्पत्ति में निःसन्देह यह सहायक होगा।

मैं इसे अपना सौभाग्य मानता हूँ कि प्रस्तुत ग्रन्थ के संपादन का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ।

दिनांक ७ दिसम्बर १९६८
पाली (राजस्थान)

—छगनलाल शास्त्री

अनुक्रम

विषय | पृष्ठ

पहला अनुशीलन

त्रिवेणी-संगम : जैन, बौद्ध तथा वैदिक वाङ्मय : समन्विति

स हु स या ने

ए

क

म

त

पहला अनुशीलन

त्रिवेणी-संगम : जैन, बौद्ध तथा वैदिक वाङ्मय समन्विति

भारत तत्त्व-ज्ञान के उद्भव, विकास और विस्तार की आदि-भूमि रहा है। यहाँ के द्रष्टाओं, ज्ञानियों और मनीषियों ने केवल जीवन के बहिरंग को नहीं देखा, वे अन्तरंग के अनुसन्धान और विश्लेषण में इस प्रकार जुटे कि उसकी थाह पाकर ही रहे। इसी का यह परिणाम है कि भारतीय वाङ्मय, दर्शन की सूक्ष्म, गम्भीर व मार्मिक विवेचना से भरा है। दर्शन के विभिन्न पक्षों को लेकर यहाँ सहस्रों ग्रन्थ लिखे गये, जिनका महत्त्व आज शताब्दियाँ बीतने पर भी कम नहीं हो पाया है।

भारतीय चिन्तन-धारा मुख्यतया तीन स्रोतों में बंटी है—जैन, वैदिक और बौद्ध। दार्शनिक व्याख्या, विवेचन और निरूपण में तीनों का अपना-अपना क्रम, शैली और प्रकार है। पर अन्ततः जीवन का सम्पूर्ण विकास तीनों का चरम ध्येय रहा है। अतएव जहाँ हम जीवन के व्यवहार, आचार या कर्तव्यपथ का चिन्तन करते हैं, वहाँ सामंजस्य और सामरस्य पाते हैं। इन तीनों के लिए प्रयुक्त त्रिवेणी अभिधान इसी भाग का परिपोषक है।

प्रस्तुत प्रकरण में १, २ तथा ३ के अंकों द्वारा जैन वाङ्मय, बौद्ध वाङ्मय तथा वैदिक वाङ्मय का निर्देश किया गया है।

यह बोधि-त्रिवेणी भारतीय चिन्तन धारा की मनोज्ञता और समता का साक्षात् निदर्शन है।

अन्तर्ध्वनि

विचार और आचार दोनों की समन्विति जीवन है। वह जीवन सात्त्विक, उज्ज्वल और सुखी जीवन कहा जाता है, जिसमें विचार परिष्कृत हों, और वैसा ही आचार हो।

जन-जन को इस ओर प्रवृत्त करने के लिए महापुरुषों के अन्तरतम में सत्य के विभिन्न पहलू अभिव्यक्त होने को उभरे। जब वे शब्दों के मूर्त्त कलेवर में आये, तब स्थूल रूप में देखने पर यत्किञ्चित् बाह्य भेद तो अवश्य दीखता पर उनके भीतर से निकलने वाली ध्वनि में कोई भिन्नता प्रतीत नहीं हुई।

प्रज्ञा का दिव्य प्रकाश, श्रद्धा से जीवन में व्यापने वाली शान्तिमय स्थिरता, प्रभु शरणागति, अज्ञान से ज्ञान, तमस् से ज्योति, असत् से सत्, तथा असंयम से संयम की ओर उन्मुख, अन्तर्धारा, आसक्ति का वर्जन, स्वाभाविक किंवा आत्मिक जीवन में गतिशील रहने में उत्साह, पुरुषाकार या पराक्रम—सत्य के ये विभिन्न पहलू हैं जो बड़े मूल्यवान् हैं, महापुरुषों की वाणी में प्रस्फुटित हुए। उनमें रहे कलेवर-भेद का क्या महत्त्व, जबकि सबका प्रेरक सन्देश एक जैसा है।

एक

(१)

अरिहंते सरणं पवज्जामि

मैं अरिहंतों की शरण स्वीकार करता हूं।

सिद्धे सरणं पवज्जामि।

मैं सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूं।

साहू सरणं पवज्जामि।

मैं साधुओं की शरण स्वीकार करता हूँ।

केवलि-पन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

मैं केवली प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ।

—श्र० सू० पृष्ठ ३६

(२)

बुद्धं सरणं गच्छामि।

मैं बुद्ध की शरण में जाता हूँ।

धम्मं सरणं गच्छामि।

मैं धर्म की शरण में जाता हूँ।

संघं सरणं गच्छामि। —बौ० ध० क० पृष्ठ २६

मैं संघ की शरण में जाता हूँ।

(३)

तमेव शरणं गच्छ। —गी० १८, ६२

उस ईश्वर की ही शरण लो।

मामेकं शरणं व्रज। —गी० १८, ६६

तू एक मेरी ही शरण में आ जा।

एक

(१)

अरिहंते सरणं पवज्जामि

मैं अरिहंतों की शरण स्वीकार करता हूं।

सिद्धे सरणं पवज्जामि।

मैं सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूं।

साहू सरणं पवज्जामि।

मैं साधुओं की शरण स्वीकार करता हूं।

केवलि-पन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

मैं केवली प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूं।

—श्र० सू० पृष्ठ ३६

(२)

बुद्धं सरणं गच्छामि।

मैं बुद्ध की शरण में जाता हूं।

धम्मं सरणं गच्छामि।

मैं धर्म की शरण में जाता हूं।

संघं सरणं गच्छामि। —बौ० ध० क० पृष्ठ २६

मैं संघ की शरण में जाता हूं।

(३)

तमेव शरणं गच्छ। —गी० १८, ६२

उस ईश्वर की ही शरण लो।

मामेकं शरणं व्रज। —गी० १८, ६६

तू एक मेरी ही शरण में आ जा।

छः

(१)

अमंजम परियाणामि, संजमं उवसंपज्जामि।

—श्र० सू० पृष्ठ २१३

मैं असंयम का परित्याग करता हूँ, संयम को स्वीकार करता हूँ।

(२)

अविज्जा विहता, विज्जा उप्पन्ना। —बौ० वृ० छा०

अविद्या (अज्ञानशीलता) नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई।

(३)

मृत्योर्मा अमृतं गमय। —बृहदा० १, ३, २८

मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो।

सात

(१)

अमग्गं परियाणामि, मग्गं उवसंपज्जामि।

—श्र० सू० पृष्ठ २१३

मैं अमार्ग—असत्मार्ग का परित्याग करता हूँ, मार्ग—सन्मार्ग को स्वीकार करता हूँ।

(२)

अपारुता अमतस्स द्वारा। —बौ० वृ० छा०

अमृत के द्वार खोल दिये गये है।

(३)

दुश्चरिताद् वाधस्वा मा सुचरिते भज। —य० वे० ४, २८

मुझे दुष्कर्मों से बचाकर सत्कर्मों में दृढता से स्थापित कीजिए।

असतो मा सद् गमय। —बृहदा० १, ३, २८)

मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो।

आठ

(१)

आणाए मामगं धम्मं । —आचा० सू० १, ६, २

मेरा (अर्हत् का) धर्म मेरी आज्ञा में है ।

अयमट्ठे परमट्ठे सेसे अणट्ठे । — भ० सू०

यही परमार्थ है, शेष सब अनर्थ हैं ।

(२)

भग्गरागो भग्गदोसो, भग्गमोहो अनासवो ।
भग्गास्स पापका धम्मा, भगवा तेन वुच्चति ।।

—वि० म० ७, ५६

जिसका राग भग्न है, द्वेष भग्न है, मोह भग्न है, किं बहुना, जिसके सभी पाप-धर्म भग्न हो गये हैं, इसलिए वह भगवान् कहा जाता है ।

(३)

मामेकं शरणं व्रज । —गी० १८, ६६

तू मेरी ही शरण में आजा ।

आज्ञैव भव-भञ्जकी । — यो० सा०

आज्ञा ही भव—आवागमन—जन्म-मरण का नाश करने वाली है ।

आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया । — र० म० १४, ४६

गुरुओं की आज्ञा में ननु-नच नहीं करना चाहिए ।

नौ

(१)

तमेव सच्चं णिस्संकं, जं जिणेहिं पवेइयं ।

— आचा० सू० १, ५, ५

वही सत्य है, वही सन्देह-रहित है, जो जिनों—राग-द्वेष-विजेताओं—सर्वज्ञों द्वारा प्ररूपित हुआ है ।

ग्यारह

(१)

वितिगिच्छ-समावन्नेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं ।

—आचा० सू० १, ५, ५

विचिकित्सा—संशय उत्पन्न होने पर शान्ति नहीं मिल सकती ।

(२)

नाहं गमिस्सामि पमोचनाय, कथंकथी धोतक कञ्चि लोके ।

— सु० नि० ६०, ४

हे धोतक ! जो संशयशील हैं, उन्हें मैं भी मुक्त करने नहीं जाऊँगा ।

(३)

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो, न सुखं संशयात्मनः ।

—गी० ४, ४०

ज्ञानहीन, श्रद्धाहीन तथा संशयशील व्यक्ति नष्ट हो जाता है । जो संशयात्मा है, उसके लोक और परलोक दोनों बिगड़ते हैं तथा उसे सुख नहीं मिलता ।

अर्जुन ! कायरता मत ला ।[1]

रह

(१)

पढमं नाणं....अन्नाणी कि काही ? —द० सू० ४

पहले ज्ञान है ।... अज्ञानी क्या कर सकता है ?

(२)

यथापि नाम जच्चंधो, नरो अपरिनायको ।
एकदा याति मग्गेन, कुमग्गेनापि एकदा ।।
ससारे संसरं बालो, तथा अपरिनायको ।
करोति एकदा पुञ्ञ अपुञ्ञमपि एकदा ।।

—वि० म० १७, ११६

जिस प्रकार जन्मान्ध व्यक्ति हाथ पकड कर ले चलने वाले साथी के अभाव मे कभी मार्ग मे जाता है तो कभी कुमार्ग से भी चल पडता है । उसी प्रकार ससार मे परिभ्रमण करता हुआ बाल—अज्ञानी पथ-प्रदर्शक सद्गुरु के अभाव मे कभी पुण्य का काम करता है, तो कभी पाप का भी काम कर लेता है ।

---

१. (क) हरि नुं मारग छे शूरानो नहि कायर नो काम जी ।

—नरसी मेहता

(ख) सत्य की आराधना भक्ति है और भक्ति सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा है । अथवा हरि का मार्ग है, जिसमे कायरता की गुंजायश ही नही । जिसमे हार नाम की कोई चीजही नही । वह तो मर कर जीने का मन्त्र है ।

—महात्मा गांधी, कल्याण, संत वाणी अंक पृष्ठ ६०६

अर्जुन ! कायरता मत ला ।[1]

तेरह

(१)

पढम नाणं''''अन्नाणी किं काही ? —द० सू० ४. १०

पहले ज्ञान है ।''' अज्ञानी क्या कर सकता है ?

(२)

यथापि नाम जच्चंधो, नरो अपरिनायको ।
एकदा याति मग्गेन, कुमग्गेनापि एकदा ।।
संसारे संसरं बालो, तथा अपरिनायको ।
करोति एकदा पुञ्ञं अपुञ्ञमपि एकदा ।।

—वि० म० १७, ११६

जिस प्रकार जन्मान्ध व्यक्ति हाथ पकड कर ले चलने वाले साथी के अभाव में कभी मार्ग से जाता है तो कभी कुमार्ग से भी चल पड़ता है। उसी प्रकार संसार में परिभ्रमण करता हुआ बाल—अज्ञानी पथ-प्रदर्शक सद्गुरु के अभाव में कभी पुण्य का काम करता है, तो कभी पाप का भी काम कर लेता है।

---

१. (क) हरि नुं मारग छे शूरानो नहि कायर नो काम जो ।

—नरसी मेहता

(ख) सत्य की आराधना भक्ति है और भक्ति सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा है। अथवा हरि का मार्ग है, जिसमें कायरता की गुंजायश ही नहीं। जिसमें हार नाम की कोई चीज़ही नहीं। वह तो मर कर जीने का मन्त्र है।

—महात्मा गांधी, कल्याण, संत वाणी अंक पृष्ठ ६०६

यारह

(१)

वितिगिच्छ-समावन्नेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं ।

—आचा० सू० १, ५, ५

विचिकित्सा—संशय उत्पन्न होने पर शान्ति नहीं मिल सकती ।

(२)

नाहं गमिस्सामि पमोचनाय, कथंकथी घोतक कञ्चि लोके ।

—सु० नि० ६०, ४

हे घोतक ! जो संशयशील हैं, उन्हें मैं भी मुक्त करने नहीं जाऊँगा ।

(३)

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो, न सुखं संशयात्मनः ।

—गी० ४, ४०

ज्ञानहीन, श्रद्धाहीन तथा संशयशील व्यक्ति नष्ट हो जाता है । जो संशयात्मा है, उसके लोक और परलोक दोनों बिगड़ते हैं तथा उसे सुख नहीं मिलता ।

बारह

(१)

पणया वीरा महावीहिं । —आचा० सू० १, १, ३

साधना के महापथ पर वीर पुरुष ही चल सकते हैं ।

(३)

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ ! —गी० २, ३

अर्जुन ! कायरता मत ला ।[1]

तेरह

(१)

पढमं नाणं......अन्नाणी किं काही ? —द० सू० ४, १०

पहले ज्ञान है । ... अज्ञानी क्या कर सकता है ?

(२)

यथापि नाम जच्चंधो, नरो अपरिणायको ।
एकदा याति मग्गेन, कुमग्गेनापि एकदा ॥
संसारे संसरं बालो, तथा अपरिणायको ।
करोति एकदा पुञ्ञं अपुञ्ञमपि एकदा ॥

—वि० म० १७, ११९

जिस प्रकार जन्मान्ध व्यक्ति हाथ पकड़ कर ले चलने वाले साथी के अभाव में कभी मार्ग से जाता है तो कभी कुमार्ग से भी चल पड़ता है । उसी प्रकार संसार में परिभ्रमण करता हुआ बाल—अज्ञानी पथ-प्रदर्शक सद्गुरु के अभाव में कभी पुण्य का काम करता है, तो कभी पाप का भी काम कर लेता है ।

---

१. (क) हरि नुं मारग छे शूरानो नहि कायर नो काम जी ।

—नरसी मेहता

(ख) सत्य की आराधना भक्ति है और भक्ति सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा है । अथवा हरि का मार्ग है, जिसमें कायरता की गुंजायश ही नहीं । जिसमें हार नाम की कोई चीज़ ही नहीं । वह तो मर कर जीने का मन्त्र है ।

—महात्मा गांधी, कल्याण, संत वाणी अंक पृष्ठ ६०६

(३)

पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः । —ऋ० वे० १, १६४, १६

जिसके आँख है—जो ज्ञानी है, वही देखता है । अन्धा—अज्ञानी नहीं देखता ।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । —गी० ४, ३८

इस लोक में ज्ञान के समान कुछ भी पवित्र नहीं है ।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते । —गी० ४ ३३

अर्जुन ! सब कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में ही होता है ।

चवदह

(१)

सड्ढी आणाए मेहावी । --आचा० सू० १, ३, ४

मेधावी अर्हत् आज्ञा—सत्पथ पर श्रद्धावान् होता है ।

(२)

सद्धाय तरति ओघं । —सु० नि० १, १०, ४

श्रद्धा से (प्राणी) भव-सागर को तैर जाता है ।

(३)

श्रद्धया सत्यमाप्यते । —य० वे० १९, ३०

श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं, तपस्तप्तं कृतं च यत् !
असदित्युच्यते पार्थ ! न च तत्प्रेत्य नो इह ।।

—गी० १७, २८

हे पार्थ! जो होम, दान, तपस्या अथवा कर्म बिना श्रद्धा के किया जाता है, वह न तो इस लोक में काम आता है और न परलोक में ?

अश्रद्दधानाः पुरुषा, धर्मस्यास्य परन्तप !
अप्राप्य मां निवर्तन्ते, मृत्यु-संसार-वर्त्मनि ।। —गी० ९, ३

हे परन्तप (अर्जुन) ! जो पुरुष इस धर्म पर श्रद्धा नहीं करते, वे मुझे न न पाकर फिर इस मृत्युलोक के मार्ग पर आते हैं।[1]

पन्द्रह

(१)

पण्णा समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्त-विणिच्छियं ।

—उत्त० सू० २३, २५

तत्त्वों का निश्चय करने वाली बुद्धि से धर्म को परखो।

(२)

पञ्ञा सुत्त-विनिच्छनी । —थे० गा० ५५४

प्रज्ञा ही श्रुत—ज्ञान का विनिश्चय—विशेष निश्चय करने वाली है।

परीक्ष्य भिक्षवो ! ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात् । —बौद्ध

भिक्षुओ ! मेरे वचन को भी परीक्षा करके ही ग्रहण करो, न कि गुरु-वाक्य मान कर।

(३)

यानि अस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि । —तैत्तिरी० १, ११, २

हमारे आचरणों में जो जो अच्छाइयां हैं, उनका ही तुम्हें अनुसरण करना चाहिए, औरों का नहीं।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ ! —गी० २, ४९

तू बुद्धि का आश्रय ले।

---

१. धर्म के मूल में श्रद्धा रही है। जहाँ श्रद्धा नहीं, वहाँ धर्म नहीं।

(महात्मा गांधी, आ० वि० भाग २, पृष्ठ २८)

सोलह

(१)

जमिणं अन्नमन्नवितिगिच्छाए, पडिलेहाए।
न करेइ पावं कम्मं किं तत्थ मुणी कारणं सिया ?
समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसायए।

—आचा० सू० १, ३, ३

कोई दूसरे की लज्जा या भय से पाप-कर्म नहीं करता तो क्या वह उसका मुनित्व है ? मुनित्व तो वह है, जहाँ धर्म का विचार करके ही आत्मा को पाप से बचाया जाता है। वास्तव में वही किये जाने योग्य है।

(२)

मा कासी पापकं कम्मं आविवा यदि वा रहो।

—थे० गा० २४७

(यदि दुःख तुझे अप्रिय है तो) प्रकट या अप्रकट किसी भी तरह पाप-कर्म मत कर।

(३)

नियतस्य तु संन्यासः, कर्मणो नोपद्यते।
मोहात्तस्य परित्याग स्तामसः परिकीर्तितः।।

—गी० १८, ७

नियत कर्मों का त्याग करना उचित नहीं है। यदि मोहवश कोई उनका त्याग करता है तो उसे तामस त्याग कहा जाता है।

दुःखमित्येव यत्कर्म, काय-क्लेश-भयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं, नैव त्याग-फलं लभेत्।।

—गी० १८, ८

शरीर को दुःख होता है इसलिए अथवा शरीर को क्लेश होने के भय से जो कर्म-परित्याग किया जाता है, वह राजस त्याग है, इससे त्याग का फल नहीं मिलता।

कार्यमित्येव यत्कर्म, नियतं क्रियतेऽर्जुन !
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव, स त्यागः सात्त्विको मतः ॥
—गी० १८, ६

हे अर्जुन ! आसक्ति और फल की कामना को छोड़कर शास्त्र-विहित कर्म करना सात्त्विक त्याग कहा जाता है।

राजदण्डभयात्पापं, नाचरत्यधमो जनः।
परलोक भयान्मध्यः, स्वभावादेव चोत्तमः॥ —सुभाषित

अधम व्यक्ति राज-दण्ड के भय से, मध्यम व्यक्ति पर लोक के भय से तथा उत्तम व्यक्ति स्वभाव से ही पाप का आचरण नहीं करता।

सतरह

(१)

तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम मा पमायए॥
—उत्त० सू० १०·३४

तुम निश्चय ही संसार-समुद्र तर गये हो। फिर किनारे पर पहुँच कर क्यों रुक गये? इसे लाँघ जाने की शीघ्रता करो। गौतम ! क्षण भर भी प्रमाद मत करो।

(२)

अप्पका ते मनुस्सेसु, ये जना पारगामिनो।
अथायं इतरा पजा, तीरमेवानुधावति॥ —बौद्ध

मनुष्यों में ऐसे बहुत थोड़े है जो वास्तव में उस पार जाना चाहते है। अधिक तो ऐसे है, जो किनारे ही किनारे दौड़ते है।

अठारह

(१)

अउलं सुहं संपन्ना, उपमा जस्स णत्थि उ।
—उत्त० सू० ३६·६६

जो मोक्ष के अनुपम सुखों से सम्पन्न है, उसे कोई उपमा नहीं दी जा सकती।

(२)

निव्वाणं परमं सुखं। —म० नि० २, ३, ५
निव्वाणसुखा परं नत्थि। —थे० गा० १६, १, ४७८

निर्वाण-सुख से बढ़कर दूसरा सुख नहीं है।

(३)

वीतरागजन्मादर्शनात्। —न्या० द० ३, १, २४.

वीतराग के जन्म का अदर्शन है, अर्थात् राग-द्वेष से रहित वीतराग आत्माओं का पुनर्जन्म नहीं होता।

उन्नीस

(१)

अपुणरावित्ति सिद्धिगइ नामधेयं ठाणं। —श्र० सू० ३६३

मुक्तात्माओं का स्थान वह है, जिसे सिद्धगति नाम से पुकारते हैं और जहाँ जाकर वापिस नहीं आते।

(२)

ते यन्ति अच्चुतं ट्ठानं, यत्थ गन्त्वा न सोचते।
—ध० प० १७, ५

वे अहिंसक उस अच्युत स्थान-जहाँ पहुँचने पर फिर गिरना नहीं होता, को प्राप्त होते हैं। वहाँ जाकर फिर शोक नहीं किया जाता।

(३)

यद् गत्वा न निवर्तन्ते, तद् धाम परमं मम। —गी० १५, ६

जहाँ जाकर (जीव) वापिस नहीं आते, वहीं मेरा परम स्थान है।

एक

(१)

मित्ति मे सव्वभूएसु । —श्र० सू० ३०, ३

प्राणी मात्र से मेरी मैत्री हो ।

(२)

मेत्तं च सव्व लोकस्मिं । —सु० नि० ८, ८

संसार में सभी मेरे मित्र हैं ।

(३)

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । —य० वे० ३६, १८

हम सबको मित्र की दृष्टि से देखें ।

दो

(१)

मेत्तिं भूएसु कप्पए । —उत्त० सू० ६, २

सब जीवों पर मित्र-भाव रखें ।

(२)

सव्वे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता । —सु० नि० ८, ३

सब सत्त्व—प्राणी सुखी हों ।

(३)

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु । —अ० वे० १६, १५, ६

सब दिशाएँ मेरी मित्र हों ।

तीन

(१)

वेरं मज्झ न केणइ । —श्र० सू० ३०, ३

मेरा किसी से वैर नहीं है ।

३ ‖ उद्बोधन

आत्मा अनन्त शक्तियों का स्रोत है, इन शक्तियों का यदि सदुपयोग किया जाए तो जीवन में ऐसे अनुपम सुख, शान्ति और समृद्धि का संचार हो सकता है, जो पदार्थों से प्राप्य नहीं हैं। इसीलिए जिन्होंने अपनी शक्तियों को सत्प्रयुक्त कर जीवन की अमरता के दर्शन किये, उन्होंने प्राणिमात्र को प्रमाद छोड़ने का उद्बोधक संदेश दिया।

अप्रमाद अमृत है, प्रमाद मृत्यु। प्रमादी सब कुछ गंवा देता है, अप्रमादी सब कुछ पा लेता है।

जीवन का सबसे बड़ा प्राप्य है—आत्म-साक्षात्कार, अपने स्वरूप की अधिगति अथवा सहजानन्द। ऐहिक भोगों की भूलभुलैया में पड़कर मनुष्य अपने यथार्थ लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने में प्रमाद करने लगता है। वह भूल जाता है, एक नगण्य वस्तु के लिए जीवन के सत्त्व को, जो सर्वोत्कृष्ट है, खो रहा है। इसीलिए शास्त्रकार मानव को बार-बार चेतावनी देते रहे हैं, वह अल्प के लिए विपुल को क्यों गंवाता है। ऐसा कर, वह दुर्लभ मनुष्य-जीवन का जैसा उपयोग लिया जाना चाहिए, नहीं लेता, जो उसकी सबसे बड़ी भूल है।

३ || उद्‌बोधन

आत्मा अनन्त शक्तियों का स्रोत है, इन शक्तियों का यदि सदुपयोग किया जाए तो जीवन में ऐसे अनुपम सुख, शान्ति और समृद्धि का संचार हो सकता है, जो पदार्थों से प्राप्त नहीं हैं। इसीलिए जिन्होंने अपनी शक्तियों को सत्प्रयुक्त कर जीवन की अमरता के दर्शन किये, उन्होंने प्राणिमात्र को प्रमाद छोड़ने का उद्‌बोधक संदेश दिया।

अप्रमाद अमृत है, प्रमाद मृत्यु। प्रमादी सब कुछ गंवा देता है, अप्रमादी सब कुछ पा लेता है।

जीवन का सबसे बड़ा प्राप्य है—आत्म-साक्षात्कार, अपने स्वरूप की अधिगति अथवा सहजानन्द। ऐहिक भोगों की भूलभुलैया में पड़कर मनुष्य अपने यथार्थ लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने में प्रमाद करने लगता है। वह भूल जाता है, एक नगण्य वस्तु के लिए जीवन के सत्त्व को, जो सर्वोत्कृष्ट है, खो रहा है। इसीलिए शास्त्रकार मानव को बार-बार चेतावनी देते रहे हैं, वह अल्प के लिए विपुल को क्यों गंवाता है। ऐसा कर, वह दुर्लभ मनुष्य-जीवन का जैसा उपयोग लिया जाना चाहिए, नहीं लेता, जो उसकी सबसे बड़ी भूल है।

तीन

(१)

अलं कुसलस्स पमाएणं । —आचा० सू० १, २, ४,

कुशल जन ! प्रमाद मत करो ।

(२)

मा त आलस पमत्त वन्धु । —थे० गा० ४१४

तुम आलसी व प्रमादी मत बनो ।

(३)

मा जीवेभ्यः प्रमदः । —अ० वे० ८, १, ७

प्राणियों के प्रति प्रमादी (आलसी व लापरवाह) मत बनो !

चार

(१)

पमायं कम्म माहंसु, अप्पमायं तहावरं ।

—सू० कृ० १, ८, ३

प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म-संवर है ।[1]

(२)

अप्पमादो अमतं पदं, पमादो मच्चुनो पदं ।

— ध० प० २, १

अप्रमाद अमरता का पद है, प्रमाद मृत्यु का ।

(३)

प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि ।
तथाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ।।

—म० भा० उद्योग पर्व ४, २, ४

मैं प्रमाद को मृत्यु और अप्रमाद को अमरता कहता हूँ ।

---

१. आलस्य एक प्रकार की हिंसा है । —गांधीजी, आ० भाग २ पृष्ठ २

(३)

यो मानुष वेद सवेद ब्रह्म । —वैदिक

जो मनुष्य को जानता है, वह ब्रह्म को जानता है।[1]

सात

(१)

वोछिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं ।
से सव्व सिणेह वज्जिए, समय गोयम ! मा पमायए ।

—उत्त० सू० १०, २८

शरद् ऋतु का कमल जिस प्रकार जल मे निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार स्नेह से मुक्त रहो, प्रमाद मत करो ।

(२)

उच्छिन्द सिनेहमत्तनो कुमुदं सारदिकं व पाणिना ।

—ध० प० २०, १३

---

१. (क) ऋचो ह यो वेद, स वेद देवान् ।
यजूंषि यो वेद, स वेद यज्ञम् ॥
सामानि यो वेद, स वेद सर्वम् ।
यो मानुष वेद, स वेद ब्रह्म ॥

जो ऋग्वेद को जानता है, वह केवल देवताओं को जानता है । यजुर्वेद को जानने वाला यज्ञ को ही जानता है । सामवेद को जानने वाला सबको जानता है । किन्तु जो मनुष्य को जानता है, वही वास्तव में ब्रह्म को जानता है ।

(ख) मध्यकाल में जिसे अध्यात्मवाद कहते थे, वही आज का मानवतावाद है । —आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

अपने प्रति आसक्ति को इस प्रकार हटा दो, जिस प्रकार शरद् ऋतु का कमल जल को हटा देता है अर्थात् जल से लिप्त नहीं होता।

आठ

(१)

सुत्तेसु यावी पडिवुद्धजीवी। —उत्त० सू० ४, ६

इस ऊँघते हुए संसार में जागते रहना श्रेष्ठ है।

(२)

अप्पमत्तो पमत्तेसु, सुत्तेसु वहु जागरो।
अवलस्स व सीघस्सो, हित्वा याति सुमेधसो।

—ध० प० २, ६

प्रमादी लोगों में अप्रमादी, सोये हुए लोगों में जागरणशील ठीक उसी प्रकार आगे निकल जाता है, जैसे तेज घोड़ा दुर्बल घोड़े से।

(३)

भूत्यै जागरणम्, अभूत्यै स्वपनम्। —य० वे० ३०, १७

जागना ऐश्वर्यप्रद है, सोना दरिद्रता का मूल है।

नौ

(१)

सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरंति। —आचा० सू० ३, १०

अमुनि (अधर्मी) सदा सोते हैं, मुनि सदा जागते रहते हैं।

जागरिया धम्मीणं अहम्मीणं च सुत्ता सेया।

—बृ० क० भा० ३३, ८७

धर्मी का जागना और अधर्मी का सोना अच्छा है?

(२)

साधु जागरतं सुत्तो । —सु० प० ७, ४१४, १४१

साधु सोता हुआ भी जागता है ।

जागरो वस्स भिक्खवे भिक्खु विहरेय्य सम्म जानो समाहितो ।

—इ० वु० २, २०

भिक्षु जागरूक रहे । उन्हें सावधानी और आन्तरिक उद्बुद्धतापूर्वक विचरण करना चाहिए ।

(३)

या निशा सर्वभूताना, तस्या जागर्ति संयमी । —गी० २, ६९

जो अन्य प्राणियों के लिए रात्रि है, आत्म-दृष्टि संयमी के लिए वही जागरण-वेला है ।

अन्तर्मुखमना नित्यं, सुप्तो बुद्धो व्रजन् पठन् ।
पुरं जनपदं ग्राममरण्यमिव पश्यति ॥ —यो० वा०

जिसके मन की गति भीतर की ओर हो गई, वह सोए चाहे जागे, चलता रहे चाहे पढ़ता रहे, वह देश, नगर एवं गाँव को जंगल की तरह देखता है ।

---

१. कुम्भकरण सम सोवत नीके । —रा० च०

अपने सुख-दुख, शान्ति-अशान्ति, कल्याण-अकल्याण सबका उत्तरदायित्व आत्मा का अपना है। अपने ही कर्मों से वह उन्नत और अपने ही कर्मों से अवनत होता है। यदि कोई व्यक्ति अशुभ, अकुशल या पाप-कर्म करता हुआ यह कल्पना करे कि उनका फल उसके लिए सुखप्रद हो, यह कैसे संभव है। जो जैसे कर्म करता है, उसे उनका तदनुरूप फल प्राप्त होता है। किये हुए कर्म वृथा नहीं जाते, चाहें वे शुभात्मक हों या अशुभात्मक।

वर्तमान की अनुकूलता, सुख, भोग, समृद्धि में मनुष्य जब आसक्त हो जाता है, तब उसके विवेक पर कुण्ठा व्याप जाती है। केवल उसे जो कुछ वर्तमान है, वही दीखता है। अतएव ज्ञानियों ने सुझाया कि वह जब कुछ भी करता हो, ऐसी उद्‌बुद्धता अपने में संजोये रखे कि उनके (किये जाते कर्मों के) परिणाम से वह बच नहीं सकेगा।

अपने वैयक्तिक सुख एवं ऐश्वर्य के अतिरिक्त परिवार, मित्र, सुहृद् आदि के प्रति रही ममता भी मानव को ऐसे मोह में डाल देती है कि उनके सुख के लिए वह अशुभ कर्म करते हिचकिचाता नहीं। पर उसे यह भूल नहीं जाना चाहिए कि पापों के फल का भाग वे कोई नहीं बंटायेंगे। जिनके लिए वह उन्हें (पापों को) संचित करता है। वह पापों का फल) तो सब उसे स्वयं ही भोगना होगा।

चरम सत्य तो यह है—आत्मा वस्तुतः सत्, चित्, आनन्दमय है। इनका जीवन में जो अभाव दीखता हैं, वह स्वाभाविक नहीं है, वैभाविक है, कारण-जन्य है। कर्मों के बन्धन के फलस्वरूप आत्मा नाना स्थितियों में से गुजरता है। कर्मों का आत्यन्तिक उच्छेद मोक्ष है, जहाँ आत्मा केवल आत्मा है, विजातीय तत्त्वों से सर्वथा रहित। इसलिए चरम यथार्थ की भाषा में ज्ञानियों ने यहाँ तक कह दिया कि जो एक आत्मा को जान लेता है, वह सब कुछ जान लेता है। उसके लिए फिर किसी प्रकार की जानकारी अवशेष नहीं रहती।

एक

(१)

सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का तत्थ न विज्जइ ।
मइ तत्थ न गाहिया । —आचा० सू०, १, ६

आत्मा के विषय में शब्द और तर्क नहीं चल सकते । बुद्धि उसकी थाह नहीं ले सकती ।

(२)

सन्तो पणीतो अवतक्कावचारी । —वि० पि०

वह (धर्म) शान्त है, उत्तम है, तर्क से अप्राप्य है ।

(३)

नैषा तर्केण मतिरापनेया । —कठो० २, ६

यह आत्म-ज्ञान तर्क से प्राप्त नहीं होता ।

विज्ञातारमरे, केन विजानीयात् । —बृहदा० २, ४, १४

अरे ! जो सब बातों को जानता है, उसे कौन जान पाए ।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य: परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे: परतस्तु सः ।। —गी० ३, ४२

कहते हैं—इन्द्रियाँ शरीर से परे है, मन इन्द्रियों से परे है, बुद्धि मन से परे है और बुद्धि से भी परे वह आत्मा है ।

दो

(१)

नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा । —उत्त० सू० १४, १६

आत्मा अमूर्त—निराकार है, अतः वह इन्द्रियों से गृहीत नहीं होता ।

(३)

अदृष्टो द्रष्टा । —बृहदा० ३, ७, २३

आत्मा स्वयं अदृष्ट है पर सबको देखता है ।

न चात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियैः ।

—म० भा० शन्ति पर्व २४८, १४

आत्मा का इन्द्रियों द्वारा दर्शन नहीं किया जा सकता ।

तीन

(१)

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ । —आचा० सू० १, ३, ४, १२४

जो एक आत्मा को जान लेता है, वह सबको जान लेता है ।[1]

(३)

आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति । —बृहदा० ४, ५, ६

आत्मा को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है ।

आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।[2]

—बृहदा० २, ४, ५

आत्मा को ही देखो, सुनो, समझो और उसी का चिन्तन— ध्यान करो ।

चार

(१)

अप्पा मित्तममित्तं च । —उत्त० सू० २०, ३७

---

१. जिसने अपने आपको पहचान लिया ।
उसने सबको पहचान लिया । —मुहम्मद, गी० कु० पृष्ठ ४५

२. एके साधे सब सधे । —कबीर

आत्मा ही मित्र और आत्मा ही अमित्र-शत्रु है ।

(२)

अत्ता हि अत्तनो नाथो । —ध० प० १२, ४

आत्मा ही अपना नाथ (स्वामी) है ।

(३)

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन. । —गी ६, ५

आत्मा ही अपना बन्धु है और वही अपना शत्रु है ।

पाँच

(१)

न त अरि कठछेत्ता करेइ,
जं मे करे अप्पणिया दुरप्पा । —उत्त० सू० २०, ४८

जितना बुरा अपना ही दुष्प्रवृत्त आत्मा कर सकता है, उतना बुरा गला काटनेवाला शत्रु भी नही कर सकता ।

एगप्पा अजिए सत्तू । उत्त० सू० २३, ३८

अजित—नही जीता हुआ आत्मा शत्रु है ।

(२)

दिसो दिसं यं त कयिरा, वेरी वा पन वेरिनं ।
मिच्छा पणिहितं चित्तं, पापियो नं ततो करे ॥

—ध० प० ३, १०

द्वेषी अपने द्विष्ट के प्रति, वैरी अपने वैरी के प्रति जो बुराई कर सकता है, उससे कही अधिक बुराई कुमार्ग मे प्रवृत्त चित्त कर सकता है ।

(३)

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
न तस्य देवाः श्रेयांसो यस्यात्माऽपि न कारणम् ॥

म० भा० आदिपर्व ७४, ३३

(३)

यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः। —अ० वे० १६, ६, ५

जिन (दुष्प्रवृत्त) इन्द्रियों से घोर पाप किये, वे ही (सत्प्रवृत्त) इन्द्रियाँ शान्ति देने वाली हैं।

तस्माद्यस्य महाबाहो, निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

—गी० २, ६८

अर्जुन ! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ विषयों से सर्वथा निगृहीत—रोकी हुई रहती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

ौ

(१)

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्म,
तमेव आगच्छति संपराए। —सू० कृ० १, ५, २, २३

आत्मा ने जैसे कर्म किये हैं, संसार में उसी के अनुसार फल मिलता है।

(२)

(२)

नत्थञ्ञो कोचि मोचेता। —चु० नि० २, ५, ३३

दूसरा कोई किसी को मुक्त नही कर सकता।

(३)

आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम्।
—म० भा० शान्तिपर्व १८१, १४

दुःख और सुख आत्मा का ही किया हुआ है।

बन्ध-मोचन-कर्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन —वि० चू० ५३

अपने को बन्धन से छुडाने वाला अपने अतिरिक्त और कोई नही है।

आठ

(१)

अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्व दुहाणमुच्चइ। —द० चूलिका २, १६

असुरक्षित—असंयत आत्मा जन्म-मरण बढाता है और सुरक्षित—संयत आत्मा सब दुःखो से छूट जाता है।

(२)

इन्द्रियाणि""अरक्खितानि अहिताय, रक्खितानि हिताय च।
—थे० गा० ७, ३१

अरक्षित इन्द्रिया अहित तथा सुरक्षित इन्द्रियाँ हित करने वाली है।[1]

---

१. संयमहीन स्त्री या पुरुष को तो गया बीता समझिए। इन्द्रियो को निरकुश छोड देने वाले का जीवन कर्णधारहीन नाव के समान है, जो निश्चय पहली चट्टान से ही टकरा कर चूर-चूर हो जायेगी।
—गाधीजी, कल्याण, सन्त वाणी अक पृष्ठ ६०८

(३)

यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः। —अ० वे० १६, ६, ५

जिन (दुष्प्रवृत्त) इन्द्रियों से घोर पाप किये, वे ही (सत्प्रवृत्त) इन्द्रियाँ शान्ति देने वाली हैं।

तस्माद्यस्य महाबाहो, निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
—गी० २, ६८

अर्जुन ! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ विषयों से सर्वथा निगृहीत—रोकी हुई रहती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

नौ

(१)

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्म,
तमेव आगच्छति संपराए। —सू० कृ० १, ५, २, २३

आत्मा ने जैसे कर्म किये हैं, संसार में उसी के अनुसार फल मिलता है।

(२)

यं करोति नरो कम्मं, कल्लाणं यदि पावकं।
तस्स तस्सेव दायादो, यं यं कम्मं पकुव्वती।
—थे० गा० १४७

मनुष्य जो पाप अथवा पुण्य करता है, उसी के अनुसार फल पाता है।

(३)

यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति, तथैव प्रेत्य भवति।
—छान्दोग्य० ३, १४, १

यहाँ इस लोक में जो जैसा कर्म करता है, वह परलोक में वैसा ही फल पाता है।

दस

(१)

कम्म-सच्चाहु पाणिणो। —उत्त० सू० ७, २०

प्राणी जैसे कर्म करते है, सचमुच वैसा ही फल पाते है।

सफले कल्लाण-पावए। —द० श्रु० ६

पुण्य और पाप का अपना-अपना फल होता है।

(२)

कम्मणा वत्तितो लोको। —सु० नि० ३५, ६१

लोक कर्मानुवर्ती है।

यादिस वपते वीजं, तादिस हरते फलं।

—सं० नि० १, ११, १०

जो जैसा बीज बोता है, वैसा ही फल पाता है।[1]

(३)

अन्यदुप्तं जातमन्यद्, इत्येतन्नोपपद्यते। —म० स्मृ० ६, ४०

बोया जाए कुछ और ही, लगे कुछ और ही, ऐसा कभी नही होता।

ग्यारह

(१)

सकम्मुणा विपरियासुवेइ। —सू० कृ० १, ७, ११

मूर्ख अपने कर्म (असत् कर्म-पाप) से ही दुखी होता है।

कम्मी कम्मेहि किच्चइ। —सू० कृ० ६, ४

कर्मी अपने कर्मों से ही दु:खी होता है।

---

१. कर्म-प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा॥ —रा० च०

(२)

सकानि कम्मानि नयंति दुग्गई। —ध० प० १८, ६

अपने कृत कर्म ही दुर्गति में ले जाते हैं।

(३)

न सीदन्नपि धर्मेण, मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकानां पापाना-माशु पश्यन्ति पर्ययम्॥

—म० स्मृ० ४, १७१

धार्मिक व्यक्ति धर्म का पालन करते समय दुःखों से घवराकर अपने मन को अधर्म में न लगाए। क्योंकि अधार्मिक अपने पापों से शीघ्र ही भीषण दुःख में गिर जाते हैं।

हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलु।
साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते॥

—भा० १०, ८, ३१

पापी अपने पाप से ही नष्ट हो जाता है। साधु पुरुष अपनी समता से ही भय विमुक्त हो जाता है।

बारह

(१)

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं। —उत्त० सू० १३, २३

कर्म अपने कर्ता के पीछे-पीछे चलता है।

(२)

कम्मनिबंधना सत्ता रथस्साणीव यायतो। —सु० नि० ३५, ६१

चलते हुए रथ का चक्र जिस प्रकार अणी से बंधा रहता है, उसी प्रकार कर्म प्राणी से बंधे रहते हैं।

(३)

यथा धेनु-सहस्रेषु, वत्सो याति स्वमातरम् ।
तथा पूर्वकृत कर्म, कर्तारमनुगच्छति ॥
—म० भा० शान्तिपर्व १८१, १६

हजारो गायो मे भी जैसे बछड़ा सीधा अपनी माता के पास दौड़ा जाता, है, उसी प्रकार कर्म भी अपने कर्ता का अनुगमन करता है।[1]

तेरह

(१)

कम्म च जाई मरणस्स मूल। —उत्त० सू० ३२, ७

जन्म और मरण का मूल कर्म है।

(२)

कम्मा पुनब्भवो होति। —दी० नि० विभग पृ० ४२६

कर्म के कारण ही पुनर्भव—जन्म होता है।

(३)

अशिक्षित. कथ वालो मुखमर्पयति स्तने। —वैदिक

बच्चा जन्मते ही बिना सिखाए अपना मुँह माता के स्तन पर क्यो लगा देता है ? (कर्म सस्कार के कारण ही)।

चवदह

(१)

कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि। —उत्त० सू० ४, ३

बिना भोगे, किये हुए कर्मों से मोक्ष—छुटकारा नही होता।

---

१. करि करि करणा लिखिजै जाहु।
(नानक, कल्याण, सत वाणी अक पृष्ठ ३८३)
तुम्हारे अपने किये हुए कर्म तुम्हारे साथ-साथ जाते है।

(२)

नहि नस्सति कस्स चि कम्मं, एतिह्नः लभते व सुवामि।

—सु० नि० ३६, १०

किसी का कर्म नष्ट नहीं होता। कर्ता उसे (उसके फल को) प्राप्त करता ही है।

(३)

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। —चि० चू०

अच्छे बुरे किये हुए कर्म निश्चित रूप से भोगने ही पड़ते हैं।

पन्द्रह

(१)

तेणे जहा संधिमुहे गहीए।
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पयापेच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि। —उत्त० सू० ४, ३

जिस प्रकार चोर सेंध लगाता हुआ पकड़ा जाने पर अपने दुष्कृत्यों के कारण दुःख पाता है, उसी प्रकार पाप करने वाला इस लोक और परलोक में अपने कर्मों के कारण दुःखी होता है। क्योंकि कर्मों को विना भोगे मुक्ति नहीं होती।

(२)

चोरो यथा सन्धि-मुखे गहीतो,
सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो।
एवं पज्ञापेच्च परम्हि लोके,
सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो। —थे० गा० ७८९

सेंध लगाता हुआ चोर जिस प्रकार अपने कृत्यों के कारण मारा जाता है, उसी प्रकार पापी जीव अपने कर्मों के कारण इस लोक या परलोक में दुःख पाता है।

सोलह

(१)

संसारमावन्न परस्स अट्ठा।
साहारणं जं च करेइ कम्मं॥
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले।
ण बंधवा बंधवयं उवेंति॥ —उत्त० सू० ४, ६

संसारी जीव अपने लिए और दूसरों के लिए जो साधारण भी कर्म करता है, उस कर्म के फल-भोग मे सम्बन्धी जन हिस्सा नही बटाते।

(३)

सञ्चिनोत्यशुभं कर्म, कलत्रापेक्षया नरः।
एकः क्लेशानवाप्नोति, परत्रेह च मानवः॥

—म० भा० शान्तिपर्व १७१, २५

मनुष्य स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्बी जनों के लिए पाप-कर्मों का संचय करता है, किन्तु इस लोक मे और परलोक मे उसे अकेले ही उन (पाप-कर्मों) का फल भोगना पड़ता है।

सतरह

(१)

जीवेण सयं कडे दुक्खं वेदेइ न परकडे। —भ० सू १, २

जीव अपना ही किया हुआ दुःख भोगता है, दूसरे का किया हुआ नहीं।

दुक्खे केण कडे ? अत्त कडे, केण ? पमायेण।

—भ० सू० १७, ५

दुःख किसने किया ? आत्मा ने किया। किससे किया ? प्रमाद से किया।

(२)

अत्तदंडा भयं जातं। —सु० नि० ४, ५३, १

आत्मा के—अपने स्वयं के दोष से ही भय उत्पन्न होता है।

(३)

आत्मानमेव मन्यते कर्तारं सुख-दुःखयोः। —च० सं०

सुख और दुःख अपना किया हुआ ही समझो।

अठारह

(१)

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति।
दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णफला भवंति॥

—द० श्रु० ६

अच्छे कामों के अच्छे फल होते हैं और बुरे कामों के बुरे फल।

(२)

य कम्मं करिस्सामि कल्लाणं व पावगं,
तस्स दायारं भविस्सामि। —बौद्ध

मैं जो भी कल्याण कर्म—पुण्य या पाप कर्म करूँगा, उसका फल-भोगी मुझे ही होना होगा।

(३)

पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा पापः पापेनेति।

—बृहदा० ३, २, १३

पुण्य-कर्म से मनुष्य पवित्र और पाप-कर्म से अपवित्र बनता है।

कर्मभूमिरियं लोके, इह कृत्वा शुभाशुभम्।
शुभैः शुभमवाप्नोति, तथाऽशुभमथान्यथा॥

—म० भा० शान्ति पर्व १९२, १९

यह जगत् कर्म-भूमि है। इसमे मनुष्य शुभ कर्मों का शुभ और अशुभ कर्मों का अशुभ फल पाता है।

याद्दशं क्रियते कर्म ताद्दशं लभ्यते फलम्। —वैदिक

जैसा कर्म किया जाता है, उसका वैसा ही फल प्राप्त होता है।

उन्नीस

(१)

सयेहिं परियाएहिं, लोय बूया कडे त्ति य।
तत्तं ते ए वियाणंति, ण विणासी कयाइवि॥

—सू० कृ० १, १, ३, ९

जो अपनी अपनी युक्तियो से लोक को कृत-किया हुआ (बनाया हुआ) कहते है, वे वस्तु-स्वरूप को नही जानते। क्योकि लोक कभी भी विनाशी नही है। (यदि कृत होता तो विनाशी होता।)

(२)

न कर्तृत्व न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्म-फल-संयोग, स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित्पाप, न चैव सुकृत विभुः।
अज्ञानेनावृत ज्ञान, तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

—गी० ५, १४-१५

ईश्वर, जीव को न कर्ता बनाता है, न उनके लिए कर्म या कर्म-फल की सृष्टि करता है। यह सब स्वभाव से होता रहता है।
वह परिपूर्ण आप्तकाम परमात्मा किसी का पाप-पुण्य नही लेता। प्राणियो के ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पडा हुआ है, जिससे वे स्वत ही मोह (भ्रम) मे पड जाते है।

५ मनो-निग्रह

मन का जीवन के उत्थान और पतन से बहुत बड़ा सम्बन्ध है। मनुष्य जो कुछ करता है, उसका पहला निर्माण मन में हो जाता है। कार्मिक परिणति बाद की वस्तु है।

मन यदि शुद्धि, सात्त्विकता और समता से आप्लावित रहे तो जीवन का समग्र क्रम पावन और निर्मल बन जाय। इसके विपरीत यदि मानसिक चिन्तन विकृति, दुर्लालसा और विषमता से व्याप्त हो तो कहना नहीं होगा, जीवन मूर्त्त अभिशाप का रूप ले लेता है। इसीलिए मन के निग्रह, नियंत्रण या नियमन पर बहुत जोर दिया गया है।

यद्यपि मन दुर्जेय है, पर सतत अभ्यास और यत्न से वह साधा जा सकता है। उसे साध लेना अथवा जीत लेना निःसन्देह बहुत बड़ी विजय है। ऐसे विजेता में वह क्षमता आ जाती है, जो जीवन में समय-समय पर उभरने वाली दुर्वृत्तियों पर झट रोक लगा सकती है। यही कारण है, जहाँ असत् की ओर उन्मुख मन बन्धन का हेतु है, वहाँ सत् की ओर उन्मुख मन मोक्ष—शाश्वत शान्ति का हेतु है।

(१)

एक

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्म-सिक्खाइ कन्थगं ॥
—उत्त० सू० २३, ५८

मन साहसिक और भयंकर है। दुष्ट घोड़े की तरह इधर-उधर दौड़ लगाता है। धर्म-शिक्षा की लगाम डालकर मैं उसे अच्छे घोड़े की तरह वश मे लाता हूँ।

(२)

फन्दनं चपलं चित्तं दुरक्खं दुन्निवारयं।
उजुं करोति मेधावी, उसुकारोव तेजनं ॥ —ध० प० ३, १

इस चंचल, चपल, दुर्रक्ष्य, दुर्निवार्य चित्त को मेधावी उसी प्रकार सीधा करता है, जिस प्रकार बाण चलाने वाला बाण को।

(३)

चञ्चलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ॥ —गी० ६, ३४

हे कृष्ण ! मन बहुत चंचल है, मनुष्य को मथ डालता है, बड़ा बलवान् है। जैसे वायु को दबाना बहुत कठिन है, वैसे ही मैं मन को वश करना बहुत कठिन मानता हूँ।

असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥ —गी० ६, ३५

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे महाबाहु अर्जुन ! मन चंचल है, निःसन्देह उसे रोकना बड़ा कठिन है। किन्तु अभ्यास और वैराग्य से उसको वश मे किया जा सकता है।

दो

(१)

परिणामे बंधो, परिणामे मोक्खो। —प्रज्ञा०

विचारो से ही बन्ध होता है और विचारो से ही मोक्ष।

(२)

मनोपुव्वङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया। —ध० प० १, १

सारी अच्छी या बुरी प्रवृत्तियाँ चित्त के अनुसार ही होती हैं।

(३)

मन एव मनुष्याणां कारणं वन्ध-मोक्षयोः।

—मैत्रा० ६, ३४ बिन्दु २

मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है।

तीन

(१)

जे एगं नामे से वहुं नामे। —आचा० सू० १, ३, ४

जो एक (मन) को नत करता है—जीतता है, वह अनेक को जीतता है।

सव्वमप्पेजिए जियं। —उत्त० सू० ९, ३६

जो आत्म-विजयी है, वह विश्व-विजयी है।

(३)

जितं जगत् केन ! मनो हि येन।[1] —शं० प्र० ११

सारे जगत् को किसने जीता ? जिसने अपने मन को जीत लिया।

चार

(१)

जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ, तल्लेसेसु उववज्जइ।

—भग० सू० ३, ४

जो जैसे मनोभावों में परिणत होता हुआ काल करता है—देह छोड़ता है, वह तदनुरूप स्थितियों में उत्पन्न होता है।

---

१. मनि जीते जगु जीत। —जपु० १८

जल्लेसाइं दव्वं परिगिण्हाइ तल्लेसाइ परिणमइ ।

—प्रज्ञा० १६

जो जैसे भावो मे द्रव्यो को ग्रहण करता है, उसकी परिणति भी वैसी ही होती है।

(२)

यादिसं कुरुते मित्तं, यादिसं चूपसेवति ।
स वे तादिसको होति, सहवासो हि तादिसो ॥

उ० वु० ३, २७

जो जैसा मित्र बनाता है और जो जैसे सम्पर्क मे रहता है, वह वैसा ही बन जाता है, क्योंकि उसका सहवास ही ऐसा है।

(३)

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः । —गी० १७, ३

मानव श्रद्धामय है । जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही पाता है।[1]

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥ —गी० ८, ६

अर्जुन ! जो अन्त मे जिस जिस भाव को स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, सदा उसी मे अनुरक्त रहने के कारण उसी को पाता है।

卐

---

१. मनुष्य जिन भावनाओ मे देखता है, वही अर्थ निकालता है।

—गांधीजी, आ० भाग २ पृष्ठ २४

६ शाश्वत सिद्धान्त

जीवन एक यात्रा है। जैसे एक यात्री को सुखपूर्वक अपनी यात्रा सम्पन्न करने के लिए सम्बल चाहिए, पाथेय चाहिए, उसी प्रकार जीवन की मंजिल पर आगे बढ़ते मनुष्य को वह सब चाहिए, जिनके सहारे उसकी यात्रा शांति, सुख और आत्मस्थता के साथ पूरी हो। 'वह सब' का आशय सत्य, अहिंसा, संयम, सद्भावना, ऋजुता, मृदुता, क्षमाशीलता, तितिक्षा, सत् असत् का विवेक, कामना व वासना का नियमन आदि से है, दूसरे शब्दों में धर्म के शाश्वत आदर्शों से है जो देश, काल एवं परिस्थिति के बदलने पर भी कभी बदलते नहीं, सदा एक से रहते हैं।

जहां मनीषियों ने सामष्टिक रूप में धर्म के अवलम्बन या अनुसरण का संदेश दिया है, वहाँ उन सबका लगभग एक जैसा आशय है कि मानव उन आदर्शों पर अपना जीवन टिकाए, जिससे उस (जीवन) की संकीर्णता मिटती जाए, विराट्ता विकसती जाए।

धर्म का परिपूर्ण पालन तो बहुत बड़ी बात है, उसका थोड़ा भी आश्रयण जीवन में एक नव चेतना का संचार कर देता है।

एक

(१)

अहिंस सच्चं च अतेणगं च,
ततो य बंभ अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ॥

—उत्त० सू० २१, १२

विद्वान् अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—पाँच महाव्रत रूप जिनदेशित धर्म का आचरण करे।

पाणिवह-मुसावाया, अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ, जीवो हवइ अणासवो॥

—उत्त० सू० ३, २

प्राणिहिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन से विरत जीव आस्रव—कर्म-द्वार को रोकता है।

(२)

पाणं न हाने न चादिन्नमादिये,
मुसा न भासे न च मज्जं पोसिया।
अब्रह्मचरिया विरमेय्य मेथुनं,
रत्तिं न भुंजेय्य विकाल-भोजनं॥ —बौद्ध

प्राण-हिंसा न करे, बिना दिया न ले, असत्य न बोले, मद्य पान न करे अब्रह्मचर्य-मैथुन से दूर रहे। विकाल (रात्रि) भोजन न करे।

पाणी न हतव्वो, अदिन्नं न दातव्वं, कामेसु मुच्छा-
न चरितव्वा, मुसा न भासितव्वा, मज्जं न पातव्वं। —बौद्ध

प्राणियों का हनन नहीं करना चाहिए, अदत्त—नहीं दी हुई वस्तु न

लेनी चाहिए, विषयों में मूर्छा—आसक्ति नहीं रखनी चाहिए, असत्य नहीं बोलना चाहिए और मदिरा नहीं पीनी चाहिए ।[1]

(३)

अहिंसा सत्यमस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं, चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥—म० स्मृ० १०, ६३

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शौच—पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह - संक्षेप में धर्म का यह स्वरूप चारों ही वर्णों के लिए मनु ने कहा है ।

अहिंसा सत्याऽस्तेय-ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः । —यो० द० २, ३०

अहिंसा, सत्य, अस्तेय—अचौर्य्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं ।

दो

(१)

धम्मं चर । —उत्त० सू० १८, ३

धर्म का अनुसरण करो ।

(२)

धम्मं····चरे । —ध० प० १३. ३३

धर्म का आचरण करना चाहिए ।

(१)

धर्मं चर । —तैत्तिरी० १, ११, १

धर्म का पालन करो ।

---

१. (क) तू हिंसा नहीं करेगा । तू व्यभिचार नहीं करेगा । तू चोरी नहीं करेगा । तू पड़ोसी की चीजों पर अधिकार नहीं करेगा ।
—ओ० टे० ३४

(ख) मित्र से प्रेम और शत्रु से द्वेष करना—यह लोकनीति है । पर मेरी सलाह है कि तुम तुम्हारे शत्रु से भी प्रेम करो । --पहाड़ी उपदेश १३

(ग) ईमान आदमी को हर किस्म के के जुल्म से बचाता है । कोई मोमिन किसी पर जुल्म न कर सके । —ह० मु० ई० पृ० १३३

तीन

(१)

इक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं,
ण विज्जइ अण्णमिहेह किंचि। —उत्त० सू० १४ ४०

राजन् ! यहाँ केवल एक धर्म के अतिरिक्त रक्षा करने वाला अन्य और कोई नहीं है।

(२)

धम्म सरणं गच्छामि। —बौद्ध

मैं धर्म की शरण लेता हूँ।

धम्मो हवे हतो हन्ति। —जातक ८, ४२२, ८५

धर्म हत होने पर—नष्ट कर दिये जाने पर, ऐसा करने वाले को नष्ट कर देता है अर्थात् धर्म नष्ट होने पर व्यक्ति नष्ट हो जाता है।

(३)

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किं न सेव्यते॥
—म० भा० स्वर्गा० ५, ६२

(महर्षि व्यास कहते हैं) मैं हाथ ऊँचा करके कह रहा हूँ, फिर भी मेरी कोई नहीं सुनता। धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, फिर उस धर्म का पालन क्यों नहीं करते ?

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्। —गी० २, ४०

धर्म का थोड़ा-सा पालन भी महाभय से बचा लेता है।

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित। —म० स्मृ० ८, १५

धर्म हत होने पर—नष्ट कर दिये जाने पर ऐसा करने वाले का नाश कर देता है और धर्म रक्षित होने पर ऐसा करने वाले की रक्षा करता है, अर्थात् जो धर्म का नाश करता है, वह नष्ट हो जाता है और जो धर्म की रक्षा करता है, वह रक्षित रहता है।

चार

(१)

सोही उज्जुभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई। —उत्त० सू० ३, १२

ऋजु—सरल आत्मा शुद्धि की ओर बढ़ता है। धर्म शुद्ध आत्मा में ही ठहरता है।

(२)

यो वे ठितत्तो तसरेव उज्जु। —सु० नि० १२, ६

जो तसर की तरह ऋजु और स्थिर है, वह मुनि है।

(३)

आर्जवं धर्ममित्याहुरधर्मो जिह्म उच्यते। —म० भा०

आर्जव—सरलता धर्म है, कुटिलता अधर्म।

मनः पूतं समाचरेत्। —म० स्मृ० ६, ४६

मन की पवित्रता के साथ आचरण करना चाहिए।

सन्धयेत् सरला सूचिः, वक्रा छेदाय कर्तरी। —सुभाषित

सरल सुई जोड़ती है और कुटिल कैंची काटती है।

पाँच

(१)

खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे।
संजमे, तवे, चिआए, बंभचेरवासे॥ —स्थान० सू० १०

क्षान्ति—क्षमाशीलता, मुक्ति—अनासक्त भाव आर्जव—ऋजुता (सरलता) मार्दव—मृदुता (कोमलता), लाघव—नम्रता, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य—ये धर्म के लक्षण हैं।

(३)

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्मलक्षणम्॥
—म० स्मृ० ६, ६२

धैर्य, क्षमा मन का सयम, अन्याय से किसी की वस्तु न लेना, शारीरिक पवित्रता, इन्द्रियों का निग्रह (विषयो से उन्हे रोकना), बुद्धि (शास्त्रादि-तत्त्व-ज्ञान), 'विद्या (आत्म-बोधी ज्ञान), सत्य (यथार्थ कथन) क्रोध न करना—ये दश धर्म के लक्षण है।

छः

(१)

विसं तु पीयं जह कालकूड।
हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं॥
एसो वि धम्मो विसओववण्णो,
हणाइ वेयाल इवाविवण्णो॥ —उत्त० सू० २०, ४४

जिस प्रकार कालकूट विष पीनेवाले को ही मारता है, कुगृहीत—विपरीत रूप मे ग्रहण किया हुआ शस्त्र, शस्त्रधारी के लिए ही घातक हो जाता है तथा विधिपूर्वक वश नही किया हुआ वैताल, मन्त्रधारी का ही विनाश कर डालता है, उसी प्रकार विषयोपपन्न—विषय-पूर्ति के लिए ग्रहण किया हुआ धर्म आत्मा का हनन—पतन करता है।

(२)

कुसो यथा दुग्गहीतो, हत्थमेवानुकन्तति।
सामञ्ञं दुप्परामट्ठं, निरयायूपकड्ढति॥ —ध० प० २२, ६

जैसे ठीक से न पकड़ने पर कुश हाथ ही को छेदता है, उसी प्रकार श्रामण्य (श्रमणता) भी यथावत् रूप मे पालन न करने पर नरक मे ले जाता है।

मधुरोपि पिण्डपातो हलाहलविसूपमो असीलस्स।

—वि० म० १, १५८

अशील—शील (सदाचार) रहित भिक्षु के लिए मधुर भिक्षान्न भी हलाहल विष के समान है।

७ अहिंसा

छोटा, बड़ा, दुर्बल, सबल, दरिद्र, सम्पन्न—कोई कैसा भी क्यों न हो, जीवन सबको प्रिय है, मरण अप्रिय। सब सुख चाहते हैं, कोई दुःख नहीं चाहता। अतः किसी को दुःखित करना, पीड़ित करना, आहत करना—ये सब अकार्य हैं, अनुचित हैं। स्वयं सुख और जीवन का आकांक्षी, दूसरे का सुख और जीवन लूटे, उसे कोई अधिकार नहीं है। यह वह पृष्ठ-भूमि है, जिस पर अहिंसा का प्रासाद टिका है।

हिंसा त्याज्य है। हिंसित तो कष्ट पाता ही है, पर हिंसक भी हिंसा करता हुआ अन्ततः सुखी नहीं होता। उसका अन्तः सत्त्व, आन्तरिक निर्मलता मिटती जाती है। उसके भीतर एक ऐसा दानव उत्पन्न हो जाता है, जो उसके जीवन के अमृतमय स्रोत को पी जाता है। देह नहीं मिटती, दैहिक स्पन्दन भी बना रहता है, पर जीवन मिट जाता है। यह है हिंसा का वीभत्स परिणाम, इसीलिए ज्ञानियों ने हिंसक को उद्दिष्ट कर यहाँ तक कह दिया कि वह पर की नहीं, स्व की ही हिंसा करता है।

अहिंसा परम धर्म है, वह अमृत है, दिव्यता है, जगत् में सर्वत्र शान्ति, सुख एवं निर्वैरता की सृष्टि का अनन्य हेतु है। इसलिए अहिंसा में सर्व भूतों का क्षेम समाया हुआ है।

एक

(१)

सव्व-जग-जीव-रक्खण-दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं
—प्र० व्या० १

भगवान् ने जगत् के सब जीवों की दया के लिए प्रवचन किया।

सव्व-जग-जीव हिय अरह तित्थं पवत्तेइ।
—आचा० सू० १, २, ५

जगत् के सब जीवों के हित के लिए अर्हत् तीर्थ[1] का प्रवर्तन करते हैं।

(२)

देसेथ भिक्खवे धम्म, आदिकल्लाण मज्झे कल्लाण परियोसनकल्लाण। —वि० पि०

भिक्षुओ! आदि में कल्याण, मध्य में कल्याण तथा अंत में कल्याण करने वाले धर्म का उपदेश करो।

बुद्धाण सामुक्कसिया देसणा। —बौद्ध

बुद्धों की देशना—धर्म-प्ररूपणा उत्कर्ष (श्रेयस्) मय है।

(३)

अहिंसार्थाय भूतानां, धर्म-प्रवचनं कृतम्।
—म० भा० शान्तिपर्व १०९, १२

सभी प्राणियों की अहिंसा के लिए धर्म का प्रवचन किया गया।

दो

(१)

अहिंसा सव्वभूय-खेमकरी। —प्र० व्या० २, १

अहिंसा समस्त प्राणियों का क्षेम—कल्याण करने वाली है।

१. (क) तीर्थ-प्रवचनम्।
(ख) तीर्थ-चतुर्विधम्।

(२)

अहिंसा सव्वपाणानं अरियो'ति पवुच्चति ।

—ध० प० १६, १५

प्राणी मात्र के प्रति अहिंसा-वृत्ति वाला पुरुष वस्तुत: आर्य है ।

(३)

अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर-त्याग: । —यो० द० २, ३५

जिसके जीवन में अहिंसा प्रतिष्ठित हो जाती है, उसके सान्निध्य में (समीप) सभी प्राणी वैर भाव छोड़ देते हैं ।[1]

अहिंसया च भूताना-ममृतत्वाय कल्पते ।

—म० स्मृ० ६, ६०

अहिंसा समस्त प्राणियों के लिए अमृत के समान है ।

का स्वर्गदा प्राणभृतामहिंसा । —शं० प्र० ३

प्राणी मात्र को स्वर्ग देने वाली कौन है ? अहिंसा ।

तीन

(१)

दाणाणसेट्ठं अभयप्पयाणं । —सू० कृ० १, ६, २३

दानों में अभयदान सर्वश्रेष्ठ है ।

(२)

सर्वेषु भूतेषु दया हि धर्म: । —बु० च० ९, १०

सब जीवों पर दया करना ही परम धर्म है ।

---

१. अहिंसा मानो पूर्ण निर्दोपता ही है । पूर्ण अहिंसा का अर्थ है—प्राणी मात्र के प्रति दुर्भाव का पूर्ण अभाव ।

—गाधीजी, कल्याण सन्त वाणी अंक, पृष्ठ ६०६

(३)

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च, तपो दानानि चानघ !
जीवाभयप्रदानस्य, न कुर्वीरन् कलामपि ॥

—भा० ३, ७, ४१

सब वेद, यज्ञ तप और दान (सभी प्राणियों के प्रति किये जाने वाले) अभय-प्रदान के एक अंश जितने भी नहीं है।

चार

(१)

अत्त-समे मन्निज्ज छप्पिकाए। —द० सू० १०, ५

छहों कायों के जीवों को अपने समान समझो।

आयओ बहिया पास। —आचा० सू० १, ३, ३

अपने तुल्य ही दूसरों को (बाहर) देखो।

(२)

अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये। —ध० प० १०, १

सब जीवों को आत्म-तुल्य जानकर किसी की हत्या व घात न करो।

(३)

सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि। —म० भा० शान्तिपर्व १६७, ६

सभी प्राणियों से आत्म-तुल्य व्यवहार करें।

जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत्, कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।

—म० भा० शान्तिपर्व २५९, २२

जो स्वयं जीवित रहना चाहता है, वह दूसरों को क्यों मारे।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ! —गी० ६, ३२

अर्जुन ! परम योगी वह है, जो सर्वत्र आत्मोपम—समता का दर्शन करता है।

पाँच

(१)

सव्वे पाणा सुहसाया, दुहपडिकूला,
अप्पियवहा, पियजीविणो । —आचा० सू० १, २, ३

सभी प्राणियों को सुख अच्छा लगता है, दुःख बुरा, जीवन प्रिय है, मृत्यु अप्रिय ।

(२)

सुखकामानि भूतानि । —ध० प० १०, ३

सभी प्राणी सुख की कामना करते हैं ।

(३)

दुःखादुद्विजते सर्वः, सर्वस्य सुखमीप्सितम् ।
—म० भा० शान्तिपर्व १३९, ६२

सब जीव सुख चाहते हैं, दुःख से घबराते हैं।

छः

(१)

सव्वेसिं जीवियं पियं । —आचा० सू० १, २, ३

सब को जीवन प्रिय है ।

(२)

सव्वेसिं जीवितं पियं । —ध० प० १०, ३

जीना सबको प्रिय लगता है ।

(३)

सर्वो जीवितुमिच्छति । —यो० वा०

सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं ।

अमेध्यमध्ये कीटस्य, सुरेन्द्रस्य सुरालये ।
सदृशी जीवने वाञ्छा, तुल्यं मृत्यु-भयं द्वयोः ॥ —गी० २०

इन्द्र में और अमेध्य—विष्ठा-गत कीड़े में, दोनों में जीवन की आकांक्षा और मृत्यु का भय समान है ।

सात

(१)

किं भया पाणा ? दुक्खभया पाणा । —स्था० सू० ३,

प्राणियों को किसका भय है ? दुःख का ।

(२)

दुक्खं अस्स महब्भयं । —सू० नि० ५६, २

इस संसार में प्राणी को दुःख ही महाभय है ।

(३)

दुःखादुद्विजते सर्वं, सर्वस्य सुखमीप्सितम् ।
—म० भा० शान्ति पर्व १३९, ६२

दुःख से सभी उद्विग्न होते हैं, घबराते हैं और सुख की सभी कामना करते हैं ।

आठ

(१)

ण हणे पाणिणो पाणे । —उत्त० सू० ६, ७

किसी प्राणी का प्राण-घात न करो ।

(२)

मा हिंस्यात् सर्वभूतानि । —म० स० १६, ४७

किसी भी जीव की हिंसा न करो ।

न हिंस्यात् सर्वभूतानि । —म० भा० शान्तिपर्व २७८, ५

सभी प्राणियों के प्रति अहिंसक रहो ।

नौ

(१)

अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया । —सू० कृ० १, ११, १०

अहिंसा के सिद्धान्त का सम्यक्ज्ञान ही यथार्थ विज्ञान है ।

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण । —सू० कृ० १, ४, १०

ज्ञानी के ज्ञान पाने का सार यही है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे ।

तुंगं न मंदराओ, आगासाओ विसालयं नत्थि ।
जह तह जयम्मि जाणसु, धम्मर्माहंसासमं नत्थि ॥

—भ० प्र० ९१

मेरु से ऊँचा और आकाश से विशाल कोई नहीं है । वैसे ही अहिंसा जैसा कोई धर्म नहीं है ।

(३)

अहिंसा परमो धर्मः । —म० भा० आदि पर्व ११, १३

—म० भा० अनुशासन पर्व ११५, २३

अहिंसा परम धर्म है ।[1]

---

१. (क) परम धरम श्रुति-विदित अहिंसा । —रा० च०

(ख) अहिंसा में किसी को न मारना तो है ही, कुविचार मात्र हिंसा है, मिथ्या भाषण हिंसा है, द्वेष हिंसा है, किसी का बुरा चाहना हिंसा है । —गांधीजी, कल्याण, सन्त वाणी अंक, पृष्ठ ६०६

दस

(१)

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो ।
तं इच्छ परस्स वि मा, एत्तियगं जिणसासणयं ॥
— बृ० क० भा० ४५८४

जो तू अपने लिए चाहता है, वह दूसरों के लिए भी चाह । जो तू अपने लिए नहीं चाहता, उसे दूसरों के लिए भी मत चाह । बस, जिन-शासन—अर्हतों की देशना का सार इतना ही है ।[1]

(२)

अत्तानं एव पठमं, पटिरूपे निवेसये ।
अथञ्ञमनुसासेय्य, न किलिस्सेय पण्डितो ॥
—धे० गा० १५८

जो उचित है उसे यदि पहले स्वयं करके पीछे दूसरे को उपदेश दे तो पण्डित सुधी पुरुष क्लेश नहीं पाता ।

(३)

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ॥ —म० भा०

धर्म को भली भांति सुने और सुनकर यह निश्चय करे कि अपने को जो नहीं भाता, वह दूसरों के लिए भी नहीं करना चाहिए ।

---

१. (क) चाह मत गैरों के लिए, जिसको कि तू चाहता नहीं ।
(ख) अगर मुस्लिम होना चाहता है तो जो कुछ अपने लिए अच्छा समझता है, वही सबके लिए अच्छा समझ । —निरमिजी

ग्यारह

(१)

जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ। —भ० प्र० ६=

जीव-वध अपना वध है, जीव-दया अपनी दया है।

(२)

यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपम कत्वा, न हनेय्य न घातये॥

—सु० नि० ३, ३७, २७

जैसा मैं हूँ, वैसे ही ये सब प्राणी हैं; और जैसे ये सब प्राणी हैं, वैसा ही मैं हूँ—इस प्रकार अपने समान सब प्राणियों को समझ कर न स्वयं किसी का वध करे और न दूसरों से कराए।

(३)

जीवितं यः स्वयं चेच्छेत्, कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।

—म० भा० शान्तिपर्व २५६, २२

जो स्वयं जीवित रहना चाहता है, वह दूसरों को क्यों मारे।[1]

बारह

(१)

तुमंसि नाम तं चेव, जं हंतव्वं त्ति मन्नसि।

—आचा० सू० १, ५, ५

तू जिसको हन्तव्य—मारने योग्य मान रहा है वह तू ही तो है।

(३)

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। —गी० ६, ३१

सभी जीवों में मैं ही एकत्व रूप में स्थित हूँ।

---

१. तुलसी दया जु पारकी, दया आपणी होय।
तू किणनै मारे नहीं, (तो) तनै न मारे कोय॥

८ सत्य

जो जैसा है, उसे उसी रूप में भाषा का विषय बनाना आत्मा की सहजता है। वहाँ कुछ नया गढ़ना नहीं होता। जहाँ राग, मोह, ऐहिकलाभ, दूसरे का अहित या लाञ्छना आदि जो सर्वथा हेय हैं, अभिप्रेत बन जाते हैं, वहाँ आत्मा की सहजता विकार से ढक जाती है और कुटिलता या प्रवञ्चना का जन्म होता है। भाषा में तब असत्य का सन्निवेश हो जाता है जो आत्मा की अधोगति का परिचायक है।

असत्यवादी का विश्वास उठ जाता है। उसके प्रति लोगों की आस्था डिग जाती है। उसके जीवन के दोनों पक्ष—ऐहिक और पारलौकिक ध्वस्त हो जाते हैं। इसीलिए सभी धर्मों ने बहुत जोर देकर कहा—सत्य बोलना चाहिए।

सत्य जीवन का सार है, आत्म-विकास का पथ है। सत्योन्मुख जीवन में शान्ति एवं आनन्द शाश्वतता लेने लगते हैं, जिससे बड़ी उपलब्धि और क्या होगी।

सत्य के साथ विवेक जुड़ा रहना चाहिए ताकि उसका दिव्य आलोक जरा भी धूमिल न हो पाए।

एक

(१)

तं सच्चं खु भगवं । —प्र० व्या० २, २

सत्य ही भगवान् है ।

(२)

सच्चं वे अमता वाचा । —सु० नि० २६, २४

सत्य ही अमृत वचन है ।

(३)

सत्यं ह्येव ब्रह्म । —बृहदा० ५. ४

सत्य ही ब्रह्म है ।

सत्यमेवेश्वरो लोके । —वा० रा० ११०, १३

सत्य ही संसार में ईश्वर है ।

नास्ति सत्यात्परो धर्मः ।

—म० भा० शान्तिपर्व १६२, २४

सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है ।

दो

(१)

सच्चं लोगम्मि सारभूयं । —प्र० व्या० २, १

सत्य ही संसार में सारभुत है ।

---

१. अल्लाहो वल हक्को । —क़ु० हज० ६२

अल्लाह—ईश्वर ही हक़—सत्य है ।

२. सत्य तें चि पर ब्रह्म । —तुकाराम

सत्य परं ब्रह्म है ।

३. सत्य ही राम है, नारायण है, ईश्वर है, खुदा है, अल्लाह है ।

—गांधीजी, आ० वि० भाग २ आ० जि०

अपने लिए, दूसरों के लिए, क्रोध से या भय से हिंसाकारी असत्य नहीं बोलना चाहिए और न बुलवाना चाहिए।

(२)

अभूतवादी निरयं उपेति,
यो वापि कत्वा न करोमीति चाह।

—सु० नि० ३.३६.५

असत्यवादी नरक में जाता है, और जो करके 'नहीं किया'—ऐसा कहता है, वह भी नरक में जाता है।

(३)

आत्महेतोः परार्थे वा, नर्महास्याश्रयात्तथा।
ये मृषा न वदन्तीह, ते नराः स्वर्गगामिनः॥

—म० भा० अनुशासन पर्व १४४, १९

अपने लिए या दूसरों के लिए हास्य, क्रीडा आदि कारणों से भी जो झूठ नहीं बोलते, वे स्वर्गगामी हैं।

९ अस्तेय

जहाँ मनुष्य लालसाओं और कामनाओं का दास बन जाता है, विचार एवं कर्म में मलिनता व्यापने लगती है। वह करणीय, अकरणीय, अधिकार, अनधिकार की सीमाएँ लाँघ जाता है। वैसी मनःस्थिति में उत्पन्न होने वाले असत् कर्मों में चौर्य भी एक है।

चोरी आत्मा की कलुषता की परिचायक है। इसके मूल में निम्नकोटि की लोलुपवृत्ति है। पारलौकिक पतन तो यह है ही, लौकिक दृष्टि से भी यह अति जघन्य कार्य है। चोरी करने वाला सदैव बचता रहे, ऐसा संभव नहीं है। कभी पकड़ में आ ही जाता है। तब उसकी अत्यन्त दुर्दशा होती है। पर वस्तु-स्थिति यह है, जहाँ लोभ का लौहावरण ज्ञान की आँखों पर आ जाता है, वहाँ यह सब दीखता नहीं।

उस आवरण को चीर डालना होगा, तभी ज्ञानी जनों का 'कभी किसी की चोरी मत करो, यह उपदेश जीवन में मूर्त्त रूप ले सकेगा।

एक

(१)

दंतसोहण माइस्स अदत्तस्स विवज्जणं । —उत्त० सू० १६, २८

दन्त-शोधन के लिए तृण जितना पदार्थ भी बिना दिये हुए न ले ।

(२)

सव्वं अदिन्नं परिवज्जयेय्य । सु० नि० २६, २०

सब प्रकार की चोरी का सर्वथा परित्याग करे ।

(३)

सर्वतः शङ्कते स्तेनो, मृगो ग्राममिवेयिवान् ।

—म० भा० शान्ति पर्व २५६, १६

गाँव में आये हुए हिरण की भाँति चोर सब ओर से सशङ्क रहता है ।

१० ‖ काम-विजय

विषय-सेवन जीवन का स्वाभाविक पक्ष नही है और न वह अनिवार्य ही है। मन मे वासना उभरती है, आत्मोन्मुख व्यक्ति अपने अन्तर्बल द्वारा उसका निग्रह कर लेता है, परन्तु हर किसी से वह सम्भव नही। इसलिए काम को दुर्जेय कहा गया है। वह जेय-जीतने योग्य है, जीता जा सकता है पर बहुत कठिनाई से। उसे जीतने के लिए आत्मा के प्रबल पराक्रम और सद्वीर्य की आवश्यकता होती है, जिससे अपने अन्तरतम को सजोने के लिए जन-जन को ऋषियो ने प्रेरणा दी।

काम जीवन का दुर्बल पक्ष है, तथा बहुत कोमल और मृदुल भी। अतः उससे बचने के लिए बड़ी जागरूकता और सावधानी बरतना अपेक्षित होता है। क्षण-क्षण उसे (व्यक्ति को) अन्तर्मुखी रहना होता है।

काम का प्रचुर सेवन कर, उससे सन्तृप्त बन उसे छोड देने की बात सोचना मानव की बहुत बड़ी भूल है। विषय के सेवन से काम की अग्नि और अधिक उद्दीप्त होती है, जिसका परिणाम निश्चय ही विनाश है।

कामोन्मुखता आत्मा को अपने स्वभाव से विचलित बना देती है, जिसका परिणाम पाप के गर्त मे अधिक से अधिक डूबते जाना है। अतएव आत्म-साक्षात्कर्ताओ ने काम-विजय पर विशेष बल दिया।

एक

(१)

दंतसोहण माइस्स अदत्तस्स विवज्जणं । —उत्त० सू० १६, २८

दन्त-शोधन के लिए तृण जितना पदार्थ भी बिना दिये हुए न ले।

(२)

सव्वं अदिन्नं परिवज्जयेय्य । सु० नि० २६, २०

सब प्रकार की चोरी का सर्वथा परित्याग करे।

(३)

सर्वतः शङ्कते स्तेनो, मृगो ग्राममिवेयिवान् ।

—म० भा० शान्ति पर्व २५६, १६

गाँव में आये हुए हिरण की भाँति चोर सब ओर से सशङ्क रहता है।

हमने भोगो को नही भोगा किन्तु भोगो ने ही हमको भोग लिया।

> न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
> हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
>
> —म० भा० आदिपर्व ७५ ५०

घी सीचने से जिस प्रकार अग्नि बढती है, उसी प्रकार उपभोग से विषयो की वृद्धि होती है।

तीन

(१)

> सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
> कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥
>
> —उत्त० सू० ९, ५३

काम-भोग शल्य है, विष के समान भयकर है और आशीविष की तरह शीघ्र ही प्राणनाशक है। काम की इच्छा से ही अतृप्त दशा मे ही प्राणी दुर्गति प्राप्त करते हैं।

---

१. एक भोगासक्त राजा की कहानी :

प्राचीन काल मे ययाति नामक राजा था। वह अत्यन्त [illegible]-लोलुप था। वृद्ध हो गया पर भोग-लोलुपता नही मिटी। वह [illegible] और उदास रहने लगा। उसे बताया गया, यदि कोई अपना यौवन [illegible] और उसका बुढापा स्वय ले ले तो वह पुनः युवा हो सकता है। [illegible] उत्कट भोगाकाक्षा और खिन्नता देख पुत्र ने अपना यौवन [illegible] भोगान्ध ययाति फिर अथक रूप से भोग भोगने लगा [illegible] भोगासक्त राजा अतृप्त ही रहा। तब उसे कुछ बोध हुआ [illegible] से यह विरक्ति पूर्ण स्वर निकला—"न जातु कामः [illegible] शाम्यति ....।"

एक

(१)

कामे कमाहि, कमियं खु दुक्खं । —द० सू०२, ५

कामनाओं से हट जाओ, दुःख स्वयं हट जायेगा ।

(२)

यो कामे कामयति, दुक्खं सो कामयति । —थे० गा० ९६

जो काम-विषयों को चाहता है, वह दुःख को चाहता है ।

(३)

एवं बुद्धेःपरं बुद्ध्वा, संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो, कामरूपं दुरासदम् ॥
—गी० ३ ४३

हे महाबाहो ! इस प्रकार इस आत्मा को बुद्धि के परे जानकर, बुद्धि द्वारा मन को निश्चल बनाकर उस प्रबल शत्रु काम को मार डालो ।

बद्धो हि को ? यो विषयानुरागी । —शं० प्र० २

बंधा हुआ कौन है ? जो विषयों में अनुरक्त है ।

दो

(१)

न काम-भोगा समयं उवेंति । —उत्त० सू० ३२,१०१

काम-भोगों से शान्ति नहीं मिल सकती ।

(२)

अतित्ता व मरन्ति नरा । —थेरी० गा० १६, १, ४८६

अधिकतर मनुष्य अतृप्तावस्था में ही मृत्यु के मुंह में पहुंच जाते हैं ।

(३)

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः । —भर्तृहरि वै० श०

हमने भोगों को नहीं भोगा किन्तु भोगों ने ही हमको भोग लिया।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।[1]
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

—म० भा० आदिपर्व ७५ ५०

घी सींचने से जिस प्रकार अग्नि बढ़ती है, उसी प्रकार उपभोग से विषयों की वृद्धि होती है।

तीन

(१)

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोपमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं॥

—उत्त० सू० ९, ५३

काम-भोग शल्य हैं, विष के समान भयंकर हैं और आशीविष की तरह शीघ्र ही प्राणनाशक है। काम की इच्छा से ही अतृप्त दशा में हीं प्राणी दुर्गति प्राप्त करते है।

---

१. एक भोगासक्त राजा की कहानी :

प्राचीन काल मे ययाति नामक राजा था। वह अत्यन्त भोग-लोलुप था। वृद्ध हो गया पर भोग-लोलुपता नहीं मिटी। वह बहुत खिन्न और उदास रहने लगा। उसे बताया गया, यदि कोई अपना यौवन उसे देदे और उसका बुढ़ापा स्वयं लेले तो वह पुनः युवा हो सकता है। पिता की उत्कट भोगाकांक्षा और खिन्नता देख पुत्र ने अपना यौवन उसे देदिया। भोगान्ध ययाति फिर अथक रूप से भोग भोगने लगा फिर भी वह भोगासक्त राजा अतृप्त ही रहा। तब उसे कुछ बोध हुआ और उसके मुँह से यह विरक्ति पूर्ण स्वर निकला—"न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति ....।"

(२)

कामा कटुका असिविसूपमा । —थे० गा० ४५१

काम आशी-विष के समान कटु हैं।

कामकामा दुक्खानि अनुभोंति । —थे० गा० ५०७

काम-भोग चाहने वाले दुःख का अनुभव करते हैं।

(३)

पुलुकामो हि मर्त्यः । —ऋ० वे० १, १७६, ५

मनुष्य स्वभाव से ही बहुत कामना वाला होता है।

चार

(१)

कामा दुरतिक्कमा । —आचा० सू० १, २, ५

काम दुरतिक्रम हैं अथवा कामनाओं की पूर्ति होना कठिन है।

केयणं अरिहई पूरित्तए । —आचा० सू० १, ३, २

जो इस चित्त की कामनाओं को पूर्ण करने की इच्छा करता है, वह चलनी को जल से भरना चाहता है।

(२)

कामपंको दुरच्चयो । —सु० नि० ५३, ११

काम का पंक—कीचड़ दुस्तर है।

(३)

कामः समुद्रमाविवेश । —अ० वे० ३, २६, ७

काम समुद्र में प्रविष्ट होता है अर्थात् कामनाएँ समुद्र के समान निःसीम हैं, उनका कहीं अन्त नहीं है।

पाताल इव दुष्पूर : । —म० भा० शान्तिपर्व १७७, ३६

यह वासना का गर्त पाताल की तरह दुष्पूर है।

आवृतं ज्ञानमेतेन, ज्ञानिनो नित्य-वैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरेणानलेन च ॥

—गी० ३, ३९

अर्जुन ! यह कभी सन्तुष्ट न होने वाला काम रूपी अनल (अग्नि) ज्ञानियो का सदा शत्रु है। इसीमे ज्ञान (विवेक) ढका हुआ है।

पाँच

खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
संसार मुक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ काम भोगा ॥

—उत्त० सू० १४, १३

काम भोग क्षणमात्र सुख देने वाले तथा चिर काल तक दु:ख देने वाले है। उनमे सुख बहुत थोडा है, अधिकांशत: दु:ख ही दु:ख है। वे (काम-भोग) मोक्ष-सुख के भयंकर शत्रु है और अनर्थो की खान है।

मुट्ठु वि मग्गिज्जंतो, कत्थ वि केलीइ नत्थि जह सारो।
इंदिय-विसयेसु तहा, नत्थि सुहं सुट्ठु वि गविट्ठं ॥

—भ० प्र० १०४

जैसे केले के स्कन्ध मे भली-भाँति खोजने पर भी कही सार नही मिलता, उसी प्रकार इन्द्रिय-विषयो मे तत्वज्ञो ने खूब खोज करके भी कही सुख नही देखा।

(२)

संगो एसो परित्तमत्थ,
सौख्यं अप्पसादो दुक्खमेत्थ भिय्यो।

—सु० नि० ३, २७

यह संग—काम, अल्पस्वाद और परिमित सुख देने वाला तथा अपरिमित दुःख देने वाला है।

(३)

विषाद्विषं किं ! विषया समस्ताः,
दुःखी सदा को ? विषयानुरागी । —शं० प्र० १३

विष से भी भारी विष क्या है ? सारे विषय-भोग । सदा दुःखी कौन है ? जो संसार के भोगों में अनुरक्त है ।

छः

(१)

अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं । —द० सू० ६, १६

अब्रह्मचर्य भयंकर प्रमाद का घर और असेव्य है ।

(२)

अब्रह्मचरियं परिवज्जयेय, अङ्गारका सुजलितं वञ्ञु ।
—सु० नि० २६, २१

जलते कोयलों के गड्ढे की तरह विद्वान् अब्रह्मचर्य को त्याग दें ।

(३)

को दुर्जयः ? सर्वजनैर्मनोज : । —शं० प्र० २८

सबके लिए क्या जीतना कठिन है ? कामदेव ।

सात

(१)

कामाणुगिद्धि-प्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
—उत्त० सू० ३२, १९

समृद्धिशाली देवताओं से लेकर सामान्य प्राणियों तक जो दुःख है, वह विषय-लोलुपता का है ।

(२)

उपादान-पच्चयाभावो भूतो दुक्खं निगच्छति ।

—मु० नि०

आसक्ति के कारण ही प्राणी संसार मे दुःख पाता है ।

(३)

वैरं पञ्चसमुत्थानं, तच्च बुध्यन्ति पण्डिताः ।
स्त्रीकृतं वास्तुजं वाग्ज, ससापत्नापराधजम् ॥

—म० भा० शान्ति पर्व १३६, ४२

वैर पांच कारणों से हुआ करता है, इस बात को विद्वान् पुरुष अच्छी तरह जानते है—१, स्त्री के लिए, २. घर और जमीन के लिए, ३. कठोर वाणी के कारण, ४. जातिगत द्वेष के कारण और ५ अपराध के कारण ।

आठ

(१)

जहा किंपाग-फलाणं, परिणामो ण सुंदरो ।
एवं भुत्ताणभोगाणं, परिणामो ण सुंदरो ॥

—उत्त० सू० १६, १८

जिस प्रकार किंपाकफल खाने मे मधुर लगता है, किन्तु अन्त मे प्राणों का नाश कर देता है; उसी प्रकार काम भोगो की आदि सुन्दर होती है पर उनका अन्त बड़ा असुन्दर—अभद्र होता है ।

(२)

मधु वा मञ्ञति बालो, याव पापं न पच्चति ।
यदा च पच्चती पापं, (अथ) बालो दुक्खं निगच्छति ॥

—ध० प० ५, १०

जब तक पाप पकते नही है, मूर्ख उन्हे मधु-सा मधुर मानता है । पर जब पाप के फल लगते है, तो वह अज्ञानी दुःख प्राप्त करता है ।

(३)

विषयेन्द्रियसंयोगाद्, यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव, तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

—गी० १८, ३८

विषय और इन्द्रियों का संयोग, जो आदि में अमृत जैसा लगता है, परिणाम में विषतुल्य होता है । इसे राजस्—रजोगुणप्रसूत सुख कहा गया है ।

नौ

(१)

एए संगा मणुस्साणं, पयाला व अत्तारिया ।
कीवा जत्थ य किस्संति, नाइ-संगेहिं मुच्छिया ॥

—सू० कृ० ३, २, १२

यह (माता, पिता आदि कौटुम्बिक जनों का) स्नेह सम्बन्ध—आसक्त भाव मनुष्य के लिए सागर की तरह दुस्तर है । आसक्ति में बंधे हुए मनुष्य संसार में दुःख पाते हैं ।

(२)

संसग्गजातस्स भवन्ति स्नेहा,
स्नेहान्वयं दुक्खमिदं पहोति । —सु० नि० ३, २

संसर्ग में रहने वाले को स्नेह उत्पन्न होता है और स्नेह से दुःख उत्पन्न होता है ।

दस

(१)

जे गुणे से आवट्टे । —आचा० सू० २, १

इन्द्रियों का विषय ही संसार है ।

अयमात्मैव ससार, कषायेन्द्रियनिर्जितः —यो० शा० ४,५

कषाय और इन्द्रिय-विषयो से पराजित आत्मा ही ससार है ।

(२)

अद्दसं काम ते मूल, संकप्पा काम जायसि ।
न त सकप्पयिस्सामि, एवं काम न होहिसि ॥

—म० नि० १, १, १

हे काम ! मैने तेरा मूल देख लिया है, तू सकल्प से पैदा होता है । मै तेरा सकल्प ही नही करूँगा, फिर तू कैसे उत्पन्न होगा ?

(३)

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात ! विषयान् विषवत्त्यजेः ।
क्षमार्जवदयाशौच, सत्यं पीयूषवत् पिबेः ॥

—अष्टा० गी०

भाई ! यदि तुझे मुक्ति की इच्छा है तो विषयो को विष के समान त्याग दे तथा क्षमा, सरलता, दया, पवित्रता और सत्य को अमृत के समान ग्रहण कर ।

काम ! जानामि ते रूप, सङ्कल्पात् किल जायसे ।
न ते सङ्कल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यमि ॥

हे काम ! मै तेरा स्वरूप जानता हूँ । तुम मन के सकल्प से उत्पन्न होते हो । मै तुम्हारा सकल्प नही करूँगा । जिससे तुम उत्पन्न नही होगे ।

ग्यारह

(१)

तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं । —सू० कृ० १, ६, २३

ब्रह्मचर्य, तपो मे सर्वोत्तम तप है ।

(२)

सीलं आभरणं सेट्ठं।
सीलं गन्धो अणुत्तरो।
सीलं पाथेय्यमुत्तमं। —थे० गा० ६१७, १८, १९

शील सर्वश्रेष्ठ आभूषण है, सर्वोत्तम सौरभ है और उत्तम पाथेय है।

(३)

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
—अ० वे० ११, ५, १९

ब्रह्मचर्य-रूप तप से देवताओं ने मृत्यु को जीता।[1]

शीलं सर्वत्र वै धनम्। —वैदिक

शील सब जगह सर्वोत्तम धन है।

---

१. ब्रह्मचर्य का अर्थ है—मन, वचन और काया से समस्त इन्द्रियों का संयम। —गांधीजी, कल्याण, सन्त वाणी अंक पृष्ठ ६०९

११ ‖ तृष्णा की विडम्बना

लौकिक जीवन पदार्थ-सापेक्ष है। वहाँ अपने दैहिक अस्तित्व के अतिरिक्त अपने कौटुम्बिक, सम्बन्धी तथा आश्रित जन—इन सबकी आवश्यकताएँ है, जिनकी पूर्ति के लिए भौतिक पदार्थ अपेक्षित रहते है। मनुष्य आवश्यकता को आवश्यकता समझकर चले तो दृष्टि और कृति—विचार और कर्म विपर्यस्त नही होते। क्योंकि आवश्यकता ससीम होती है, जिसे अन्याय और अनीति के बिना भली-भाँति जुटाया जा सकता है। पर जब उसमे तृष्णा आ मिलती है, तब उसकी ससीमता लुप्त हो जाती है। वह सागर की तरह असीम बन जाती है। तब उसे आवश्यकता नही कहा जा सकता। क्योंकि उस मनःस्थिति मे मानव अपनी अनेक भावी पीढ़ियो के लिए भौतिक सुख-सुविधा की विपुल सामग्री, सम्पदा, वैभव सचित कर लेना चाहता है। परिणाम यह होता है, वह ज्यो-ज्यो सचय करता है, उसकी तृष्णा और अधिक विस्तार पाती जाती है। आकाश की तरह उसका ओर-छोर नही रहता।

यह आत्म-विडम्बना या प्रवंचना की दशा है, जब व्यक्ति एक मात्र भोग्य पदार्थो के सग्रह पर दृष्टि गडाये रहता है। वहाँ आत्मानुशीलन, आत्म-विकास और जीवन-शुद्धि—ये सब अत्यन्त गौण हो जाते है। जीवन पर पार्थिवता छा जाती है। इसीलिए तत्त्वद्रष्टाओ ने तृष्णा को दुःख का मुख्य कारण बताया, उसे सर्वथा परिहेय कहा।

एक

(१)

सुवण्ण-रूवस्स उ पव्वयाभवे,
सियाहु केलाससमा असंखया।
णरस्स लुद्धस्स ण तेहि किंचि,
इच्छाहु आगाससमा अणंतिया॥

—उत्त० सू० ९,४८

कैलाश के समान सोने और चाँदी के असंख्य पर्वत भी यदि पास में हों तो भी तृष्णाशील व्यक्ति की तृप्ति के लिए वे न कुछ के बराबर हैं। क्योंकि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है।

(२)

न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति।

—ध० प० १४,८

कार्षापण नामक मूल्यवान् (सोने के) सिक्के की वर्षा होने लगे तो भी लोभी की इच्छा तृप्त नहीं होती।

(३)

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। —कठो० १, १२७

मनुष्य धन से कभी तृप्त नहीं होता।

दो

(१)

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं णालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे॥

—उत्त० सू० ९,४९

चावल, जौ, सोना और पशुओं सहित समूची पृथ्वी भी एक मनुष्य के सन्तोष के लिए यथेष्ट नहीं है, यह जानकर मनुष्य विरक्ति से सन्तोष करे।

(२)

पर्वतोऽपि सुवर्णस्य समो हिमवतो भवेत्।
नालमेकस्य तद् वित्त-मिति विद्वान् समाचरेत्।

—दिव्या० पृष्ठ २२४

हिमालय पर्वत के तुल्य सोने का ढेर भी लोभी को सन्तुष्ट नहीं कर सकता, अतः विद्वान सन्तोष अपनाए।

(३)

पृथिवी रत्नसम्पूर्णा, हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

—म० भा० आदि पर्व ७५, ५१

रत्नों से भरी हुई सारी पृथ्वी, संसार का सारा सुवर्ण, सारे पशु और सुन्दर स्त्रियां किसी एक पुरुष को मिल जाय, तो भी वे सबके सब उसके लिए पर्याप्त नहीं होंगे, वह और भी पाना चाहेगा। ऐसा समझ कर शान्ति धारण करे—भोगेच्छा को दबादे।

तीन

(१)

रागाउरे से जह वा पयंगे, आलोयलोले समुवेइ मच्चु।

—उत्त० सू० ३२,२४

राग से आतुर बना हुआ मनुष्य लौ पर जलने वाले पतिंगे की तरह मृत्यु को प्राप्त होता है।

(२)

पतन्ति पज्जोतमिवाधिपातका,
दिट्ठे सुते इतिहेके निविट्ठा। —सु० नि० ६,६

जैसे पतिंगें उड़-उड़ कर जलते हुए दीपक पर आ गिरते हैं, वैसे ही अज्ञानी दृष्ट और श्रुत वस्तु के मोह में फँस जाते हैं।

(३)

शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च, पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन वद्धाः।
कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीन-भृङ्गा नरः पञ्चभिरञ्चितः किम् ॥
—वि० चू० ७८

अपने-अपने स्वभाव के अनुसार शब्दादि पाँच विषयों में से केवल एक-एक से बँधे हुए हरिण, हाथी, पतंग, मछली और भौंरे जब मृत्यु को प्राप्त होते हैं, तो इन पाँचों से जकड़ा हुआ मनुष्य कैसे बच सकता है?

चार

(१)

इमं च मे अत्थि इमं च णत्थि,
इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं,
हरा हरंति त्ति कहं पमाए॥ —उत्त० सू० १४, १५

यह मेरे हैं, यह मेरे नहीं हैं, यह किया है, यह करना है, और यह नहीं करना है—मनुष्य यों सोचता रहता है और रात-दिन रूपी चोर उसे उठाकर ले जाते हैं। ऐसी स्थिति में क्यों प्रमाद करते हो?

(२)

इच्छानिदानानि परिग्गहानि। —म० नि० १,११,१०७

परिग्रह का मूल इच्छा है।

(३)

इदं कृतमिदं कार्य—मिदमन्यत् कृताकृतम्।
एवमीहासमायुक्तं, मृत्युरादाय गच्छति॥
—म० भा० शान्तिपर्व २७७, १९

मनुष्य विचार करता है—'यह किया है, यह करना है, यह काम कुछ तो हो गया, कुछ बाकी है।' इस प्रकार मनसूबे बाँधते हुए मनुष्य को मौत लेकर चल देती है।

इदमद्य मया लब्धमिमं, प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे, भविष्यति पुनर्धनम्॥

—गी० १६,१३

"आज मुझे यह धन मिला, कल मेरा यह मनोरथ पूरा होगा, आज मेरे पास इतना धन है, बाद मे मेरे पास इतना हो जायेगा।" (यों विचार करते-करते)—

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ। —गी० १६, १६

काम-भोगो मे आसक्त मनुष्य अपवित्र नरक मे गिरते है।

पाँच

(१)

लोहो सव्वविणासणो। —द० सू० ८, ३८

लोभ सब कुछ नष्ट कर देता है।

(२)

गेधं ब्रूमि महोघो ति। —सु० नि० ५३,११

लोभ को महा गर्त कहा है।

(३)

अनर्थानामधिष्ठानमुक्तो लोभः पितामह !

—म० भा० शान्ति पर्व १५९, १

हे पितामह ! लोभ अनर्थों का अधिष्ठान—घर है।

लोभो धर्मस्य नाशाय। — म० भा० सभापर्व ७१,३४

लोभ से धर्म नष्ट हो जाता है।

छः

(१)

लोभाविले आययई अदत्तं। —उत्त० सू० ३२, २६

मनुष्य लोभ के वश होकर ही चोरी करता है।

(२)

लुद्धा धनं सन्निचयं करोति। —थे० गा० ७७६

लोभी धन का संचय करता है।

(३)

हते भीष्मे हते द्रोणे, कर्णे वा त्रिदिवं गते।
आशा वलवती राजन् ! शल्यो जेष्यति पाण्डवान् ॥

—म० भा०

महाभारत के युद्ध में भीष्म मारे गये, द्रोण मारे गये, और कर्ण भी स्वर्गवासी हुए, फिर भी दुर्योधन को यह आशा वनी रही कि शल्य पाण्डवों को जीत लेगा। आशा निःसन्देह वड़ी वलवती है।

सात

(१)

नत्थि एरिसो पासो पडिवंधो। —प्र० व्या० १, ५

परिग्रह—आसक्ति के जैसा दूसरा कोई वन्धन नहीं है।

(२)

नंदी संयोजनो लोको। —सु० नि० ६८, ५

तृष्णा ही संसार का वन्धन है।

(३)

स्नेह-पाशान्वितो मूढो, न स मोक्षाय कल्पते। —म० भा०

जो स्नेह—आसक्ति के वन्धन से वंधा हुआ है, वह मूढ मोक्ष पाने योग्य नहीं होता

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्मशाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्॥

—म० भा० शान्तिपर्व १३,४

दो अक्षरों का नाम 'मम'—यह मेरा है, ऐसा भाव मृत्यु है और तीन अक्षरों का 'न-मम'—यह मेरा नहीं है, ऐसा भाव मोक्ष है।

पाशो हि को? यो ममताभिमानः। —शं० प्र० ६

बन्धन क्या है? ममता और अहंकार।

आठ

(१)

ममत्तभावं न कहिं पि कुज्जा। —द० चू० २, ८

कहीं भी ममत्व भाव नहीं करना चाहिए।

(२)

न च ममायेथ किञ्चि लोकस्मिं। —सु० नि० ५२, ८

संसार में किसी भी वस्तु पर ममता न करो।

सन्निधिं परिवज्जये। —थे० गा० ७०१

संग्रह मत करो।

(३)

मा गृधः कस्यस्विद् धनम्। —ईशा० १

किसी के धन पर मत ललचाओ।

नौ

(१)

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।

—उत्त० सू० ८,१७

ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ होता है। लाभ से लोभ बढ़ता है।

ग्यारह

(१)

एवमेगेसिं महब्भयं भवइ। —आचा० सू० १, ५, २

यह परिग्रह ही लोगों के महा भय का हेतु है।

(२)

धिगर्थं दुःखभाजनम्। —म० भा० अनु० १४५

दुःख के भाजन धन को धिक्कार है।

अर्थमनर्थं भावय नित्यं,
नास्ति ततः सुख-लेशः सत्यम्। —च० मं० २

धन को अनर्थ का कारण समझो, उससे नाम मात्र का भी सुख नहीं है।

अर्थेप्सुता परं दुःखमर्थप्राप्तौ ततोऽधिकम्।
जातस्नेहस्य चार्थेषु, विप्रयोगे महत्तरम्॥

—म० भा० आदिपर्व १५६, २४

धन की इच्छा सबसे बड़ा दुःख है, किन्तु धन प्राप्त करने में तो और भी अधिक दुःख है, जिसे प्राप्त धन में आसक्ति हो गई है, धन का वियोग होने पर उसके दुःख की तो कोई सीमा ही नहीं रहती।

बारह

(१)

धणेण किं धम्म धुराहिगारे। —उत्त० सू० १४, १७

धर्माचरण में धन की क्या आवश्यकता है?

(२)

अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेन। —बृहदा० २, ४, २

धन से अमरता की आशा नहीं की जा सकती।

येनाहं नामृता स्यां किं तेन कुर्याम्। —बृहदा० ४, ४, ३

जिससे मैं अमृतत्व प्राप्त न कर सकूँ, ऐसी समृद्धि से मुझे क्या लेना-देना है।

(२)

मनुष्य जितना ही कामादि का सेवन करता हैं, उतनी ही उसकी तृष्णा बढ़ती है। —म० नि० मागंदिय सुत्त

(३)

तथैव तृष्णा वित्तेन वर्धमानेन वर्धते।

—म० भा० शान्ति पर्व २७७, ७

धन के बढ़ने के साथ ही तृष्णा बढ़ती है।

दस

(१)

तण्हा हया जस्स न होइ लोहो।
लोहो हओ जस्स न किंचणाइ॥ —उत्त० सू० ३२, ८

जिसने तृष्णा का नाश कर दिया, उसके लोभ नहीं होता। जिसने लोभ को दूर कर दिया, उसे कोई दुःख नहीं होता।

(२)

तण्हाय विप्पहानेन निब्बाणं इति वुच्चति। —सु० नि० ६८, ५

तृष्णा का छूटना ही मुक्ति कहा जाता है।

तण्हक्खयो सव्वदुक्खं जिनाति। —ध० प० २६, २१

तृष्णा के क्षय से सब दुःख क्षीण हो जाते हैं।

(३)

तृष्णा च दुःख बीजम्। —छान्दो० ७, २३, १

तृष्णा ही समस्त दुःखों का बीज है।

अशान्तस्य कुतः सुखम्। —गी० २, ६६

अशान्त मनुष्य को सुख कहां ?

सन्तोषमूलं हि सुखं, दुःख मूलं विपर्ययः। —म० स्मृ ४, १२

सुख का मूल सन्तोष है और दुःख का मूल तृष्णा।

ग्यारह

(१)

एवमेगेसि महब्भयं भवइ। —आचा० सू० १, ५, २

यह परिग्रह ही लोगों के महा भय का हेतु है।

(२)

धिगर्थं दु:खभाजनम्। —म० भा० अनु० १४५

दु:ख के भाजन धन को धिक्कार है।

अर्थमनर्थं भावय नित्यं,
नास्ति ततः सुख-लेशः सत्यम्। —च० मं० २

धन को अनर्थ का कारण समझो, उससे नाम मात्र का भी सुख नहीं है।

अर्थेप्सुता परं दुःखमर्थप्राप्तौ ततोऽधिकम्।
जातस्नेहस्य चार्थेषु, विप्रयोगे महत्तरम्॥
—म० भा० आदिपर्व १५६, २४

धन की इच्छा सबसे बड़ा दुःख है, किन्तु धन प्राप्त करने में तो और भी अधिक दु:ख है, जिसे प्राप्त धन में आसक्ति हो गई है, धन का वियोग होने पर उसके दु:ख की तो कोई सीमा ही नही रहती।

बारह

(१)

धणेण किं धम्म धुराहिगारे। —उत्त० सू० १४, १७

धर्माचरण में धन की क्या आवश्यकता है?

(२)

अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेन। —बृहदा० २, ४, ३

धन से अमरता की आशा नहीं की जा सकती।

येनाहं नामृता स्यां किं तेन कुर्याम्। —बृहदा० ४, ४, ३

जिससे मैं अमृतत्व प्राप्त न कर सकूँ, ऐसी समृद्धि से मुझे क्या लेना-देना है।

●

१२ रात्रि-भोजन

रात्रि भोजन अहिंसा की दृष्टि से तो वर्जनीय है ही, क्
अनेक प्रकार के छोटे-छोटे जीव-जन्तु, कीट-पतिंगे आदि विशेष
लगते हैं, जिनकी हिंसा आशंकित है, पर स्वास्थ्य के लिए भी
खाना अनेक दृष्टियों से लाभप्रद है।

सूर्यास्त से पूर्व भोजन कर लेने से भोजन और शयन के बी
अन्तर रह जाता है, जिससे भोजन के पाचन में विशेष सहायता मिल

एक बात और ध्यान देने योग्य है, रात में भोजन करने से
कीड़ों, भुनगों आदि के भोज्य पदार्थों में गिरने की आशंका बनी रह
कई बार विषाक्त कीड़े भोजन में गिरकर बड़ी हानि पहुँचा देते हैं।

सूर्यास्त के पश्चात् भोजन न करना आध्यात्मिक एवं दैहिक
दृष्टियों से लाभप्रद है।

एक

(१)

अत्थगयम्मि आइच्चे, पुरत्थाय अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥

—द० सू० ८, २८

सूर्य अस्त होने से सूर्य उदय होने तक सर्व प्रकार के खान-पान की मुमुक्षु मन से भी इच्छा न करे ।

(२)

रत्तिं न भुंजेय्य विकाल भोजनं । —सु० नि० २६, २५

रात्रि-भोजन विकाल-भोजन है, जो नहीं करना चाहिए ।

(३)

वर्जनीया महाराजन् ! निशीथेभोजन क्रिया । —म० भा०

राजन् ! रात मे भोजन करना सर्वथा छोड़ देना चाहिए ।

●

१३ विजय-मार्ग

मनुष्य के भीतर सत् और असत् का द्वन्द्व चलता रहता है। जब सत् का उद्रेक होता है, वह असत् का पराभव करना चाहता है। जब असत् उभार में आता है तो वह सत् को निगल जाना चाहता है। असत् की प्रबलता में काम, क्रोध, मद, मान, माया, प्रमाद—ये सब बढ़ने लगते हैं, जिसे आत्म-गुणों का ह्रास कहा जा सकता है। यदि ये उत्तरोत्तर बढ़ते जाएं तो जीवन का सत्त्व मिटने लगता है। अतएव शास्त्रकारों ने इस अन्तर्युद्ध में इनसे वीरतापूर्वक लोहा लेने का सन्देश दिया। जीवन में इस आन्तरिक संग्राम का बड़ा महत्त्व है। इसमें पराजित होने वाला जीवन की बाजी हार जाता है। उसका बहुमूल्य जीवन वृथा चला जाता है। इसमें विजयी होने वाला जीवन की सबसे बड़ी सफलता प्राप्त करता है, जिसके प्राप्त होने पर और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता।

शास्त्रकारों ने इस विजय को 'आत्म-विजय' के नाम से सम्बोधित किया है। उनके अनुसार जिसने अपने आपको जीत लिया, अपने अन्तरतम में उभार पाती दुर्वृत्तियों पर नियन्त्रण पा लिया, उसने सब कुछ जीत लिया।

ऐसा विजेता समभावी होता है। न वह दैहिक जीवन की कामना करता है और न मरण की ही। वह एकमात्र आत्म-उत्कर्ष का आकांक्षी होता है, जो उक्त विजय का लक्ष्य है।

एक

(१)

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥

—उत्त० सू ६, ३४

एक पुरुष दुर्जय संग्राम में दश लाख सुभटों पर विजय प्राप्त करता है और एक महात्मा अपने आत्मा को ही जीतता है। इन दोनों में आत्म-विजय ही महान् विजय है।

(२)

यो सहस्सं सहस्सेन, सङ्गामे मानुसे जिने।
एकञ्‍जयेय्य अत्तानं, स वे सङ्गामजुत्तमो॥

—ध० प० ८, ४

एक पुरुष संग्राम में दश लाख योद्धाओं पर विजय प्राप्त करता है और एक पुरुष अपने आत्मा को ही जीतता है। इन दोनों में आत्म-विजयी ही श्रेष्ठ सांग्रामिक—योद्धा है।

दो

(१)

सव्वमप्पे जिए जियं। —उत्त० सू० ६, ३६

अपने आत्मा पर विजय करने से सब पर विजय हो जाती है।

(२)

अत्ता हवे जितं सेय्यो, या चायं इतरा पजा।

—ध० प० ८, ५

एक आत्मा जीता हुआ श्रेयस्कर है, न कि अन्य प्रजा (लोग)।

जितं जगत् केन ? मनो हि येन। —श० प्र० ११

जगत् को किसने जीता ? जिसने अपने मन को जीता।

तीन

(१)

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य॥

—उत्त० सू० १, १५

आत्मा का दमन करना—उस पर काबू पाना कठिन है। उसी पर काबू पाना चाहिए। आत्मा पर काबू पाने वाला इस लोक और परलोक में सुखी होता है।

(२)

अत्तानं चे तथा कयिरा, यथाञ्ञमनुसासति।
सुदन्तो वत दम्मेथ, अत्ता हि किर दुद्दमो॥

—ध० प० १२, ३

मनुष्य अपने को भी वैसा बनावे, जैसा वह दूसरे का अनुशासन करता है। पहले अपने आप का भली प्रकार दमन करे। वास्तवमें ऐसा करना ही कठिन है।

(३)

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं, नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव आत्मनो वन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

—गी० ६, ५

मनुष्य आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करे अर्थात् अपना उद्धार आप ही करे। अपने आपको गिरने न दे। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वयं ही अपना वन्धु और स्वयं ही अपना शत्रु है।

चार

(१)

उवसमेण हणे कोहं। —द० सू० ८, ३६

शान्ति से क्रोध को जीतो।

(२)

अक्रोधेन जिने कोधं । —ध० प० १७, ३

अक्रोध से क्रोध को जीतो ।

(३)

सेनूंस्तर दुस्तरान् अक्रोधेन क्रोधम् । —सा० वे १, ६१, ६

इस दुस्तर सागर को तर । अक्रोध से क्रोध को जीत ।

अक्रोधेन जयेत् क्रोधम् । —म० भा०उद्योग पर्व ३६, ७२

अक्रोध से क्रोध पर विजय प्राप्त करनी चाहिए ?

पाँच

(१)

कोहं च माणं च तहेव मायं ।
लोभं चउत्थं अज्झत्थ दोसा ॥
एयाणि वंता अरहा महेसी ।
ण कुव्वई पाव ण कारवेइ ॥

—सू० कृ० १, ६, २६

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चारो ही अन्तरात्मा के दोष है। महर्षि—समदर्शी साधक इन दोषो को हटा दे ! इनके वश होकर अघ-सचय न करे, न कराए।[1]

---

१. (क) जो अपने गुस्से को पी जाते है और लोगो को माफ कर देते है, वे खुदा के प्यारे है। —कु० आल अमरान १३६

(ख) जो तुम्हारा गुनाह करता है, उसे माफ कर दो। जो तुम्हारी बुराई करता है, उसकी भलाई करो। —त० मु० ई० पृष्ठ १३६

(ग) गुस्से को पीजाना इन्सानियत है।

—गाधीजी, आ० वि० भाग २ पृष्ठ ६

(३)

काम एष क्रोध एष, रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा, विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥

—गी० ३, ३७

रजोगुण से उत्पन्न हुए काम एवं क्रोध महाभक्षी—सद्गुणों को निगल जाने वाले, महापाप्मा—बड़े-बड़े पाप-कार्यों में प्रवृत्त करने वाले हैं। इन्हें अपना शत्रु समझो ।

छः

(१)

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
फलं व कीयस्स वहाय होई ॥

—द० सू० ९,१, १

जो विद्यार्थी अभिमान, क्रोध, मद या प्रमाद के वश होकर गुरु का विनय नहीं करता, तो वह (गुरु का अविनय), जैसे वांस का फल वांस के नाश के लिए होता है, उसी प्रकार उसी के लिए अनर्थकारी होता है ।

(२)

यो सासनं अरहतं अरियानं धम्मजीविनं ।
पटिक्कोसति दुम्मेधो, दिट्ठि निस्साय पापिकं,
फलानि कट्ठकस्सेव अत्तघञ्ञाय फुल्लति ॥

—ध० प० १२, ८

जो दुर्बुद्धि पापमय दृष्टि का आश्रय लेकर अर्हतों तथा धर्मनिष्ठ आर्य पुरुषों के शासन की अवहेलना करता है, वह वांस के फल की तरह आत्म-हनन के लिए प्रफुल्लित होता है ।

लोभो दोसो च मोहो च, पुरिस पापचेतसं।
हिंसन्ति अत्तसंभूता, तचसार व सम्फलं॥

—सु० पि० ३, १

आत्म-संभूत—अपने ही मन मे उत्पन्न होने वाले लोभ, द्वेष और मोह पाप चित्त वाले पुरुष को वैसे ही नष्ट कर देते है, जैसे कि केले के वृक्ष को उसका फल।

(३)

आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठ प्रापयति।

—छान्दोग्य० ४, ९, ३

आचार्य—सद्गुरु से सीखी हुई विद्या ही साध्य को प्राप्त कराती है।

सात

(१)

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ।

—आ० सू० ६, २५

आत्मा से ही युद्ध कर, तुम्हे बाहरी युद्ध मे क्या लेना है।

(२)

आत्मनैकेन योद्धव्य तत्ते युद्धमुपस्थितम्।

—म० भा० अश्वमेध पर्व १२, १४

आत्मा से युद्ध कर, यही युद्ध तेरे सामने है।

आठ

(१)

जीवियं नाभिकंखेज्जा, मरणं नो वि पत्थए।

—आचा० सू० ८, ८, ४

जीवन और मरण दोनो की आकाक्षा नही करनी चाहिए।

जीवियासामरणभयविप्पमुक्के ।   —आ० सू० ८, ७

भिक्षु जीने की आशा और मृत्यु के भय से मुक्त रहते हैं।

(३)

नाभिनंदामि मरणं नाभिनंदामि जीवितम् ।

—थे० गा० ६०६

मैं जीवन और मृत्यु का अभिनन्दन—उल्लास पूर्ण कामना नहीं करता।

(४)

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।

—म० स्मृ० ६, ४५

साधक जीवन और मरण का अभिनन्दन—कामना नहीं करता।[1]

नौ

(१)

जे आयरिय-उवज्झायाणं, सुस्सूसा वयणंकरा ।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा ॥

—द० सू० ९, २, १२

जो शिष्य आचार्यों और उपाध्यायों की सेवा करते हैं, उनकी आज्ञानुसार चलते हैं, उनकी शिक्षा उसी प्रकार बढ़ती है, जिस प्रकार जल से सींचे हुए वृक्ष।

(२)

अभिवादनसीलिस्स, निच्चं वुड्ढापचायिनो ।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्णो सुखं बलं ॥

—ध० प० ८, १०

१. जो जीवन का मोह छोड़कर जीता है वही जीवित रहता है।

—गांधीजी, आ० नि० भाग २ पृष्ठ १८

जो अभिवादनशील है, सदा वृद्धों की सेवा करने वाला है, उसकी चार बातें बढ़ती हैं—आयु, यश, सुख और बल।

(३)

अभिवादनशीलस्य, नित्य वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते, आयुर्विद्या यशोबलम्॥

—म० स्मृ० २, १२१

पूज्य जनों का सदा अभिवादन और वृद्धजनों की सेवा करने वाले की आयु, वित्त, यश और बल बढ़ता है।

दस

(१)

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा। —उत्त० सू० ३२, ३

गुरु-जनों तथा वृद्धों की सेवा मोक्ष—सद्ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग है।

(२)

बुद्धिमान् वृद्ध-सेवया। —म० भा० वनपर्व ३१३, ४८

मनुष्य वृद्ध पुरुषों की सेवा से बुद्धिमान् होता है।[1]

---

१. न हंस के सीखे हैं, न रो के सीखे हैं।
जो कुछ भी सीखे हैं, किसी के होके सीखे हैं। —अकबर

१४ ‖ क्रान्त वाणी

गति और स्थिति जीवन के दो क्रम हैं, जो आवश्यक हैं। गति में स्थि-
स्थिरता चाहिए, अन्यथा गति केवल चञ्चलता मात्र रह जाती है। स्थि
गति चाहिए, नहीं तो वह जड़ता और रूढ़ि का रूप ले लेती है।

जीवन में जब जड़ता एवं रूढ़िपरता पनपने लगती है तो सत्य का आ
उसमें होने वाले नव-नव उन्मेष—यह सब पकड़ में नहीं आता। मानव
विशेष अपेक्षा से निरूपित तथ्य को शाश्वत मानने लगता है और यों
आत्म-स्फूर्ति से हाथ धो बैठता है। उसमें जड़ता इतनी व्याप जाती है
वह दूसरे की बात सुनने तक को तैयार नहीं होता। ऐसी स्थिति में मह
पुरुषों को सहज ही यह अन्तःप्रेरणा होती है, वे रूढ़ और जड़ लोक-जी
में नई चेतना का संचार करें। ऐसा करने के लिए उन्हें वैसी ओजमय वा
का आश्रय लेना होता है, जो सुनने वालों के हृदय को तत्काल छूए, उस
एक चोट करे, ऐसी चोट जो जड़ता और रूढ़िपरता के बन्धनों को शिथि
कर सके। वह वाणी क्रान्ति की वाणी होती है। उसके उत्क्रान्त स्वर श्ल
और अवसन्न जन-जीवन को झकझोर डालते हैं।

जातिवाद की अयथार्थता, कर्म और चरित की प्रधानता, अनुभूति अ
क्रिया शून्य ज्ञान की भारवाहिता, परम्परा-पोषण और स्थिति-पालक वृ
की भर्त्सना, सात्त्विक तथा सत्यनिष्ठ जीवन की उपादेयता इत्यादि-इत्या
अनेक तथ्य वैसी ही वाणी में प्रस्फुटित होते हैं।

एक

(१)

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

—उत्त० सू० २५, ३३

मनुष्य कर्म (आचरण) से ही ब्राह्मण होता है एवं क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र भी कर्म से ही होता है।

(२)

न जच्चा ब्राह्मणो होति, न जच्चा होति अब्राह्मणो।
कम्मुना ब्राह्मणो होति, कम्मुना होति अब्राह्मणो॥

—सु० नि० ३५, ५७

न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है और न जन्म से कोई अब्राह्मण। कर्म से ही तो ब्राह्मण होता है और कर्म से ही अब्राह्मण।

(३)

तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम्। —म० भा०

(चाण्डाल और मच्छीमार जैसों के घर में पैदा होने वाले) अधम कहे जाने वाले व्यक्तियों ने भी तपस्या से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया, इसलिए जाति कोई तात्त्विक वस्तु नहीं है।

दो

(१)

सक्खं खु दीसइ तवो-विसेसो।
न दीसइ जाइ-विसेस कोई॥

—उत्त० सू० १२, ३७

जाति की कोई विशेषता नहीं है, तपस्या का ही प्रभाव साक्षात् देखा जाता है।

(२)

मा जातिं पुच्छ चरणं च पुच्छ।
कट्ठाहवे जायति जातवेदो ॥
नीचो कुलीनो पि मुनि धितीमा।
आजानिओ होति हिरी निसेधो।

—सु० नि० ३०, ८

किसी से उसकी जाति के सम्बन्ध में मत पूछो, आचरण के सम्बन्ध में पूछो। लकड़ी से अग्नि उत्पन्न होती है, इसी प्रकार नीच कुल में उत्पन्न होकर भी मुनि धृतिमान्, उत्तम, पाप-विरत और लज्जावान्-असत् कार्य से संकुचित रहने वाला होता है।[1]

(३)

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।

—म० स्मृ० १०, ६५

अच्छे आचरण से शूद्र ब्राह्मण हो सकता है और बुरे आचरण से ब्राह्मण शूद्र।

नीचानीताऽपि कस्तूरी, कस्तूरीकुरुते न ताम्। —सुभाषित

कस्तूरी यदि नीच मनुष्य के द्वारा भी लाई हुई हो तो, भी उसे कौन स्वीकार नहीं करता।

तीन

(१)

मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।
ण सो सुअक्खाय-धम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं॥

— उत्त० सू० ९, ४४

---

१. (क) जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ी रहन दो म्यान॥ —कबीर

(ख) जात-पांत पूछै नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।

अज्ञानी भले ही मास-मास की (अशन-त्यागमूलक) तपस्या करता हुआ कुश की नोक पर टिके, उतना सा भोजन करे किन्तु सु-आख्यात— सर्वज्ञो द्वारा भाषित धर्म के सोलहवे अंश जितना भी उसका मूल्य नही है ।

(२)

मासे मासे कुसग्गेन, बालो भुञ्जेथ भोजनं ।
न सो संखतधम्मानं, कलं अग्घति सोलसिं ॥

—ध० प० ५, ११

अज्ञानी चाहे कुश की नोक पर समाए, उतना सा भोजन करे पर वह सम्यक् ख्यापित—प्रबुद्ध महापुरुषो द्वारा प्रकाशित धर्म की सोलहवी कला के भी योग्य नही होता ।

चार

(१)

सुबहु पि सुमहीयं, किं काही चरण-विप्पहीणस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता, दीव-सय-सहस्स कोडी वि ॥

—वि० भा० ११५२

आचरणहीन पुरुष को ढेरो शास्त्रो का ज्ञान भी कुछ लाभ नही पहुँचा सकता । क्या लाखो, करोडो जलते हुए दीपक अन्धे के देखने मे सहायक हो सकते है ?

(२)

बहु पि चे सहितं भासमानो ।
न तक्करो होति नरो पमत्तो ॥
गोपो व गावो गणयं परेसं ।
न भागवा सामञ्ञस्स होति ॥

—ध० प० १, १९

चाहे कितनी ही संहिताओ का उच्चारण करे, किन्तु जो तदनुसार आच-

रण करने वाला नहीं होता, वह दूसरों की गायों को गिनने वाले ग्वाले की भांति श्रामण्य का भागी नहीं होता।[1]

(३)

काय-पाठेन पठिष्यामि, वाक्पाठेन तु किं भवेत्।

—म० भा०

मैं काय से अर्थात् आचरण से ही पढ़ूंगा। केवल वाणी से पढ़ने से क्या लाभ होगा।

पाँच

(१)

जहा खरो चंदण-भारवाही।
भारस्स भागी न हु चंदणस्स॥
एवं खु णाणी चरणेण हीणो।
भारस्स भागी ण हु सुग्गईए॥

—वि० भा० ११५८

जैसे चन्दन का भार ढोने वाला गधा केवल भार का ही भागी होता है, चन्दन की सौरभ व शीतलता उसे नहीं मिलती। उसी प्रकार आचरण-हीन व्यक्ति का ज्ञान भी केवल भार रूप ही है, सुगति का दाता नहीं।

(२)

यावजीवम्पि चे वालो, पण्डितं पयिरुपासति।
न सो धम्मं विजानाति, दव्वी सूपरसं यथा॥

—ध० प० ५, ५

चाहे अज्ञ जन जीवन भर ज्ञानी की पर्युपासना करे—उसकी सेवा में रहे, तो भी वह धर्म को वैसे ही नहीं जान सकता, जैसे कुड़छी दाल के स्वाद को नहीं जान पाती।

---

१. पर उपदेशे आप न करे, आवत जावत जम्मै-मरै। —मु० म० सा०

(३)

न जानन्ति परं तत्त्वं दर्वी पाक-रसं यथा। —ग० पु०

वे (अज्ञानी) यथार्थ तत्त्व को नहीं जान सकते, जैसे कुडछी रसोई के स्वाद को नहीं जान सकती।

छः

(१)

समयाए समणो होइ।[1] —उत्त० सू० २५, ३२

समता का आचरण करने से ही श्रमण होता है।

(२)

समचरिता समणोति वुच्चति। —ध० प० २६, ६

श्रमण वह है, जिसकी चर्या सम (सम्यक्) है।

समितत्ता हि पापानं समणो' ति पवुच्चति। —ध० प० १६, १०

पापों का शमन करने से ही श्रमण होता है।

---

१. (क) शास्त्रावगाहपरिघट्टनतत्परोऽपि,
नैवाबुधः समभिगच्छति वस्तु-तत्त्वम्।
नाना-प्रकार-रसभावगताऽपि दर्वी,
स्वादं रसस्य सुचिरं नहि वेत्ति किञ्चित्॥ —सू० कृ० वृ०

केवल शास्त्रों में डुबकी लगाने वाला, उन्हें घोटने वाला अज्ञानी उसी प्रकार वस्तु-तत्त्व को नहीं जान पाता, जिस प्रकार कुडछी चिर-काल तक नाना प्रकार के सरस पदार्थों का स्पर्श करती हुई भी उनका स्वाद नहीं जानती।

२. (ग) निष्णातोऽपि च वेदान्ते, साधुत्वं नैति दुर्जनः।
चिरं जलनिधौ मग्नो, मैनाक इव मार्दवम्॥ —भा० वि०

वेदान्त में पारगत होने पर भी दुर्जन सज्जन नहीं होता। समुद्र में डूबे रहने पर भी मैनाक पर्वत कब कोमल होता है।

(३)

समत्वं योग उच्यते । —गी० २, ४८

समत्व (समता) ही योग (मुनि-धर्म) है ।

सात

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥

—उत्त० सू० २५, ३१

सिर मुंडाने से ही कोई श्रमण नहीं होता और न ओंकार का जप करने से कोई ब्राह्मण होता है । उसी प्रकार न वन में वास करने से कोई मुनि और वल्कल—वृक्ष की छाल धारण करने से तापस होता है ।

(२)

न मुण्डकेण समणो । —ध० प० १६, ६

मुण्डन करा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता ।

(३)

मौनान्न मुनिर्भवति, नारण्यवसनान्मुनिः ।
स्व लक्षणं तु यो वेद, स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते ॥

—म० भा० उद्योग पर्व ४३, ६०

अरण्य में निवास करने से अथवा मौन धारण करने से कोई मुनि नहीं होता । जो मुनि के नियमों को जानकर उनका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ मुनि है ।[1]

---

१. जइ वणवासमित्तेणं नाणी जाव तवस्सी भवति,
तेण सीहवग्घादयो वि । —आचा० चू० १, ७, १

यदि कोई वन में रहने मात्र से ही ज्ञानी और तपस्वी हो जाता है, तो फिर सिंह, बाघ आदि भी ज्ञानी, तपस्वी हो सकते हैं ।

आठ

(१)

चीराजिणं णगिणिणं, जडी-संघाडि-मुंडिणं ।
एयाणि वि न तायंति, दुस्सील-परियागयं ॥

— उत्त० सू० ५, २१

वल्कल—वृक्ष की छाल या चर्म पहनना, नग्न रहना, जटा धारण करना, वस्त्र के टुकड़े साथ-साथ कर पहनना, मुण्डन करना—ये सब चरित्र से हीन (दुःशील) व्यक्ति की मुक्ति नहीं करा सकते ।

(२)

न नग्गचरिया न जटा न पङ्का,
नानासका थण्डिलसायिका वा ।
रजो च जल्लं उक्कुटिकप्पधानं,
सोधेंति मच्चं अवितिण्णकङ्खं ॥

—ध० प० १०, १३

तृष्णा-विकल पुरुष का नग्न रहना, जटा धारण करना, देह पर कीचड़ लीपना, उपवास करना, पृथ्वी पर सोना, भस्म लगाना, कुक्कुटासन से बैठना आदि उसे शुद्ध नहीं कर सकते । अर्थात् यदि मनुष्य तृष्णा-जर्जर (दुःशील) है तो यह सब करने पर भी वह जीवन का वास्तविक साध्य नहीं साध सकता ।

नौ

(१)

दुप्परिच्चया इमे कामा, णो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह संति सुव्वया साहू, जे तरंति अतरं वणिया व ॥

— उत्त० सू० ८, ६

काम-भोग का त्याग करना बड़ा कठिन है । कायर पुरुष इसे सहज में

नहीं छोड़ सकते। समुद्रों पर व्यापार करने वाला वणिक् जिस प्रकार समुद्र को पार कर जाता है, उसी प्रकार सुव्रती साधु इसे लांघ जाते हैं।

(३)

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवातुमुपायतः॥

—गी० ६, ३६

असंयत आत्मा के लिए योग प्राप्त करना बड़ा कठिन है। किन्तु जिसका आत्मा वश में है, वह उपाय द्वारा उसे सहज में प्राप्त कर लेता है।

दस

(१)

धम्मे हरए बंभे संति तित्थे,
अणाविले अत्तपसण्णलेस्से।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं॥

—उत्त० सू० १२, ४६

धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है, आत्मा की प्रसन्न लेश्या—उज्ज्वल परिणाम मेरा निर्मल घाट है, जहाँ स्नान कर मैं मल-रहित और विशुद्ध होकर दोषों का त्याग करता हूँ।

(२)

को नु मे इदमक्खासि अजानत्तस्स अजानतो।
उदकाभिसेचना नाम पापकम्मा पमुच्चाते॥

—थे० गा० २४०

कौन कहता है कि स्नान से पाप-मुक्ति हो जाती है। यह तो अज्ञानी का अज्ञानी के प्रति उपदेश है।

सग्गं नूनं गमिस्सति सब्बे मंडूककच्छपा।
नगडा च सुंसमारा च ये चञ्ञे उदके चरा॥

—थे० गा० २४१

बुद्ध की शिष्या पूर्णिका उदक-शुद्धि-परक ब्राह्मण को कहती है—"स्नान-शुद्धि से पाप-मुक्ति हो तो निश्चय ही मेढक, कछुए, मछलियां और सुंसुमार आदि जलचर प्राणी स्वर्ग प्राप्त कर लेंगे।"

(३)

अगाधे विमले शुद्धे, सत्य-तोये, धृति-ह्रदे।
स्नातव्य मानसे तीर्थे, सत्त्वमालम्ब्य शाश्वतम्॥

—म० भा० अनुशासन पर्व १०८, १३

सत्य रूपी अगाध, निर्मल और शुद्ध जल से भरे हुए, धैर्य रूपी सरोवर से युक्त मानस (मन रूपी) तीर्थ में सत्त्व—सद्गुणों का आलम्बन लेकर स्नान करना चाहिए।

मनसा च प्रदीप्तेन, ब्रह्म-ज्ञान-जलेन च।
स्नाति यो मानसे तीर्थे, तत्स्नानं तत्त्वदर्शिनः॥

—म० भा० अनुशासन पर्व १०८, १३

ब्रह्म ज्ञान रूपी जल से युक्त मानस (मनरूपी) तीर्थ में आत्म-शुद्धि की भावना से स्नान करना ही तत्त्व-द्रष्टा का वास्तविक स्नान है।

नोदक-विलन्न-गात्रस्तु, स्नात इत्यभिधीयते।
स स्नाति यो दम-स्नातः, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

—म० भा० अनुशासन पर्व १०८, ६

जिसका शरीर जल में केवल भीग गया, वह वस्तुतः स्नात—स्नान किया हुआ नहीं कहा जा सकता। जो दम-संयम में स्नान करता है वही बाहर से और भीतर से पवित्र है।

१५ ‖ मुनि-धर्म

जीवन का एक पक्ष साधना का पक्ष है, जहाँ व्यक्ति उत्तरोत्तर पर से हटता है, स्व की ओर बढ़ता है। स्वोन्मुख जीवन में आकांक्षा, लालसा मिटती जाती है। फलतः ऐसा व्यक्ति वचन और कर्म में एक समान होता है। ऐसे व्यक्ति का 'स्व' इतना विस्तीर्ण हो जाता है या उसमें इस सीमा तक समानता की भावना आ जाती है कि उसे शत्रु और मित्र के भेद की अनुभूति ही नहीं रहती। अपने-पराये का भेद समाप्त हो जाता है। तब वह किसी को सताने, उत्पीडित करने में प्रवृत्त हो, यह कैसे संभव है। संयम उसके जीवन का सहज धर्म हो जाता है।

जब तक देह है, तब तक तदनुकूल कर्म भी है, पर आत्मोन्मुख साधक जल-स्थित कमल की तरह कर्म से लिप्त नहीं होता क्योंकि उसमें आसक्ति नहीं होती। कर्तव्यता और लिप्तता में अन्तर है। लिप्त बंधता जाता है, कर्तव्यशील छूटता जाता है।

पूजा, प्रतिष्ठा और सत्कार उसे चाहिए, जिसे स्वोन्मुख जीवन के आनन्द की अनुभूति नहीं होती। जो स्वोन्मुखता या अध्यात्म का आनन्द पा लेता है, इन सबको चाहना तो दूर की बात है, वह इनसे कतराता है क्योंकि इनका आधार पर है, जो अन्ततः हेय है।

ऐसा साधक अपने जीवन को उन्नत और विकसित करता ही है, समाज के लिए भी उसके जीवन का बहुत बड़ा महत्त्व है। उसके द्वारा किया गया पथ निर्देश जन-जन को सच्चे विकास की ओर अग्रसर होने की दिशा देता है। इतना ही नहीं, उसका अपना जीवन ही प्रेरणा और शिक्षा का मूर्त रूप ले लेता है।

एक

(१)

जहावाई तहाकारी। —स्था० सू० १०

सत्पुरुष वही है, जो जैसा बोले वैसा करे।

(२)

यथावादी तथाकारी अहू बुद्धस्स सावगो।

—थे० गा० १२८०

जैसा बोले वैसा करे, वही बुद्ध का शिष्य है।

(३)

चित्ते वाचि क्रियायां च साधूनामेकरूपता।

—भर्तृहरि, नी० ७०

सत्पुरुषों के मन, वचन और क्रिया मे समानता होती है।[1]

दो

(१)

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पाव कम्मं न बंधइ॥

—द० सू० ४, ८

जो यतना—संयम या विवेक से चले, खड़ा हो, बैठे, सोए, खाए और बोले, उसके पाप-कर्म का बंध नहीं होता।

(२)

यतं चरे यतं तिट्ठे यतं अच्छे यतं सये।

—सु० पि० ४, ९

---

१. जहाँ वाचा और मन मे एकता नहीं, वहाँ वाचा केवल मिथ्यात्व है, दम्भ है, शब्द-जाल है। —गाधीजी, आ० वि० भाग २ पृष्ठ ३६

साधक यतना से चले, यतना से खड़ा हो, यतना से बैठे और यतना से ही सोए।

चर वा यदि वा तिट्ठं, निसिन्नो उद वा सयं।
अज्झत्थं समयं चित्तं, सन्तिमेवाधिगच्छति॥

—सु० पि० ३, ३७

चलते, खड़े होते, बैठते या सोते जो अपने चित्त को आत्मस्थ—शान्त रखता है, वह अवश्य ही शान्ति प्राप्त करता है।

(३)

यत् करोषि यदश्नासि, यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुस्व मदर्पणम्॥

—गी० ९, २७

अर्जुन ! तुम जो करते हो, खाते हो, होमते हो, देते हो, तपते हो, वह सब मुझे अर्पण कर दो। अर्थात् यह सब तुम मुझे अर्पण करते हुए करो।[1]

तीन

(१)

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पाव-कम्मं न बंधइ॥

—द० सू० ४, ९

---

१. (क) ऐ (रसूल) कह दो कि मेरी नमाज, मेरी पूजा, मेरी जिन्दगी, मेरी मौत सब उस अल्लाह के लिए ही है, जो सब दुनियाँ को पालने वाला है। —अन० आय १६३

(ख) अल्लाह की राह में चलने वाले आदमी पढ़ते, बोलते, खाते, पीते, चलते, फिरते सब हालतों में दिल अल्लाह की तरफ ही लगाये रहें। —कु०

(२)

हत्थसञ्ञतो पाद-सञ्ञतो, वाचाय सञ्ञतो सञ्ञतुत्तमो।
अज्झत्तरतो समाहितो, एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं॥

—ध० प० २५, ३

जिसके हाथ, पैर और वाणी में संयम है, जो उत्तम संयमी है, जो अध्यात्म-रत, समाधियुक्त और एकाकी सन्तुष्ट है, उसी को भिक्षु कहते हैं।

(३)

यदा न कुरुते पाप, सर्वभूतेषु कर्हिचित्।
कर्मणा मनसा वाचा, ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

—म० भा० आदि पर्व ७५, ५२

जब मनुष्य मन, वाणी और कर्म द्वारा सभी प्राणियों के प्रति पाप—असत् कार्य नहीं करता तो वह ब्रह्म-स्वरूप—शुद्धात्म स्वरूप हो जाता है।

पाँच

(१)

मण-वय-काय सुसंवुडे जे स भिक्खू।

—द० सू० १०, ७

जो मन, वचन और तन को पाप से रोक कर रखता है, वही भिक्षु है।

(२)

कायेन संवुता धीरा, अथो वाचाय संवुता।
मनसा संवुता धीरा, ते वे सुपरिसंवुता॥

—ध० प० १७, १४

कायिक, वाचिक और मानसिक चंचलताओं से जो परे है, वही वीर है।

(३)

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्या, वहन्ती वासना-सरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन, योजनीया शुभे पथि ॥

—यो० वा० मुमुक्षु प्रकरण ६, १०

शुभ और अशुभ मार्ग में वह रही वासना रूपी नदी को अपने पुरुषार्थ के द्वारा अशुभ मार्ग से हटाकर शुभ मार्ग में लगाना चाहिए ।[1]

छः

(१)

निम्ममो निरहंकारो, वीयरागो अणासवो ।
संपत्तो केवलं नाणं, सासयं परिनिव्वुडे ॥

—उत्त० सू० ३५, २१

ममत्व व अहंकार रहित, वीतराग तथा निरास्रव होकर, केवल ज्ञान (सर्वज्ञता) पाकर जीव शाश्वत सुख में लीन हो जाता है ।

(२)

लाभालाभेन मथिता, समाधि नाधिगच्छन्ति ॥

—थे० गा० १, १०२

जो लाभ या अलाभ से विचलित हो जाते हैं, वे समाधि को प्राप्त नहीं कर सकते ।

दुक्खी सुखं पत्थयति, सुखी भिय्योपि इच्छति ।
उपेक्खा पन सन्तत्ता, सुखमिच्चेव भासिता ॥

—वि० म० १७, २३८

दुःखी सुख की अभ्यर्थना—इच्छा करता है, सुखी और अधिक सुख चाहता है । किन्तु दुःख, सुख में उपेक्षा-भाव रखना ही वस्तुतः सुख है ।

---

१. सब बातें मनुष्य की मन, वचन और कर्म की शुद्धि पर निर्भर है ।

—गांधीजी, आ० वि० भाग २ पृष्ठ ६

(३)

विहाय कामान् यः सर्वान्, पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः, स शान्तिमधिगच्छति ॥

—गी० २, ७१

जो पुरुष सब कामनाओं का त्याग कर, इच्छा, ममता और अहंकार रहित होकर विचरता है, वही शान्ति पाता है।

सात

(१)

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो णिंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥

—उत्त० सू० १६, ६१

साधु वह है, जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा और सम्मान-अपमान में समभाव रखे,

(२)

तहेव लाभे नालाभे, नायसे न च कित्तिया।
न निंदापसंसाय, न ते दुक्खे सुखम्हि च ॥

—थे० गा० ६६७

लाभ-अलाभ, यश-अपयश, निन्दा-प्रशंसा और सुख-दुःख में मुनि जन समान-चित्त रहते हैं।

(३)

समः शत्रौ च मित्रे च, तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु, समः सङ्गविवर्जितः ॥

—गी० १२, १८

शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख इन सबमें जो समान रह कर आसक्ति से दूर रहता है, वह मेरा भक्त (साधक) है।

लाभालाभे सुखे दुःखे च तात ! प्रियाप्रिये मरणे जीविते च ।...

—म० भा० शान्तिपर्व १, १५८, १४

हे तात ! मुनिजन लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन और मृत्यु में समदर्शी होते हैं।[1]

आठ

(१)

सव्वारंभपरिच्चाओ, णिम्ममत्तं सुदुक्करं ।

—उत्त० सू० १६, ३०

सभी आरम्भ-समारम्भों का परित्याग करना तथा ममता रहित होना बड़ा कठिन है। (किन्तु जो होता है, वही मुनि है)

(२)

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष, उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी, यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

—गी० १२, १६

जो सब अपेक्षाओं से वर्जित—आलस्य, पवित्र, निपुण माध्यस्थ-भाव-युक्त, व्यथारहित तथा सब आरम्भ-समारम्भों का त्यागी है, वही मेरा भक्त (साधक) है, जो मुझे प्रिय है।

नौ

(१)

न वा लभिज्जा निउणं सहायं ।
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ॥
एगो वि पावाइं विवज्जयंतो ।
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ —उत्त० सू० ३२, ५

१. ब्रह्म गियानी के मित्र सत्र समान,
ब्रह्म गियानी कै नहीं अभिमान । —सु० म० सा० १, ६, ८

यदि मुनि को गुणों में श्रेष्ठ या समान गुण वाला कोई कुशल सहयोगी न मिले तो वह ऐहिक विषयों मे अनासक्त रहता हुआ, पापों का वर्जन करता हुआ अकेला ही विचरण करे।

एगो चरेज्ज धम्मे। —प्र० व्या० २, ३

भले ही कोई साथ न दे, अकेले ही सद्धर्म का आचरण करना चाहिए।

(२)

नो चे लभेथ निपकं सहायं,
सद्धिं चरं साधु विहारि धीरं।
राजा व रट्ठं विजितं पहाय,
एको चरे खग्गविसाण कप्पो॥ —सु० नि० ३, १२

यदि अनुकूल, धीर और बुद्धिमान् साथी न मिले तो विजित राष्ट्र को त्यागने वाले राजा की तरह मुनि अकेला ही खड्ग-विषण—गेंडे की ज्यों पराक्रम-पूर्वक विचरे।

एकसा चरितं सेय्यो, नत्थि वाले सहायता।

—ध० प० २३, ११

अकेला विचरण करना श्रेयस्कर है किन्तु मूर्ख को साथी बनाना अच्छा नहीं है।

(३)

हीयते हि मतिस्तात! हीनैः सह समागमात्।
समैश्च समतामेति, विशिष्टैश्च विशिष्टताम्॥—म० भा०

तुच्छ विचार वालों की संगति से मनुष्य की बुद्धि तुच्छ हो जाती है। समान श्रेणी के मनुष्यों की संगति से वह ज्यों की त्यों बनी रहती है। उच्च विचार वालों के संपर्क से वह उत्कर्ष प्राप्त करती है।[1]

—नै० च०

दस

(१)

कालेण निक्खमे भिक्खु, कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जित्ता, काले काल समायरे ॥

—द० सू० ५, २, ४

मुनि भिक्षा के लिए समय पर जाए और समय होने पर वापिस लौट आए, असमय को टालकर जो कार्य जब करने का है, उसे तभी करे ।

(२)

न वे विकाले विचरेय्य भिक्खु ।
गामं च पिण्डाय चरेय्य काले ॥ —सु० नि० २६, ११

भिक्षु असमय मे विचरण न करे, समय पर भिक्षा के लिए गाँव मे जाए ।

(३)

कालातिक्रमो हि प्रत्यग्रं कार्यरसं पिबति ।

—य० वे० उव्वट भाष्य ३, २९

काल का अतिक्रमण अर्थात् विलम्ब कार्य के ताजा रस को पी जाता है—कार्य को नष्ट कर देता है ।

ग्यारह

(१)

अप्पिच्छा समणा निग्गथाणं पसत्था । भ० सू० १, ९, २१

श्रमणों—निर्ग्रन्थों के लिए अल्पेच्छा—सन्तोष ही प्रशस्त—उत्तम है ।

(२)

अप्पिच्छता सप्पुरिसेहि वण्णिता । —थे० गा० ११२७

अल्पेच्छा—संतोष की सबने प्रशंसा की है ।

(३)

अशान्तस्य कुतः सुखम् । —गी० २, ६६

अशान्त को सुख कहाँ ।

बारह

(१)

अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा ।
लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो ॥ —द० सू० ६, ३, ४

जो भिक्षा के लिए जाने पर यदि कुछ भी न मिले तो शोक न करे, मिलने पर दाता की (या अपनी) प्रशंसा न करे, वही भिक्षु पूजनीय है।

लाभुत्ति न मज्जिज्जा अलाभुत्ति न सोइज्जा,
बहुं पि लद्धुं न निहे। —आचा० सू० १, २, ५

साधु भिक्षा मिलने पर फूल न उठे, न मिलने पर शोक न करे और अधिक मिलने पर संग्रह न करे।

(२)

लद्धा न सन्निधिं कयिरा न च परितन्ते तानि अलभमानो।
—सु० नि० ५२, १०

भिक्षु अन्न-पानी के मिलने पर संग्रह न करे, न मिलने पर परिताप न करे।

अलाभे न विहन्येत, लाभे चैव न हर्षयेत् । —म० भा०

साधु को चाहिए कि अलाभ में वह दुःखी न हो तथा लाभ में फूल न उठे।

अलाभे न विषादी स्यात् लाभे चैव न हर्षयेत् । —म० स्मृ० ६, ५७

संन्यासी अलाभ में विषाद और लाभ में हर्ष न माने।

तेरह

(१)

सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था । —स्था० सू० ६, १

भगवान् ने अनिदानता—निष्कामता की सर्वत्र प्रशंसा की है।

धर्म का अनुसरण करता हुआ साधक (बाधक रूप) शरीर, धन और जीवन का भी त्याग कर दे।[1]

(३)

आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत्। —म० भा० उद्योग पर्व १२८, ४९

आत्म-हित के लिए सब कुछ छोड़ देना चाहिए।

सतरह

(१)

इड्ढिं च सक्कारण पूयणं च।
चयट्ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू॥ —द० सू० १०, १७

जो स्थितात्मा ऋद्धि—वैभव, सत्कार और पूजा का त्याग कर देता है, जो स्नेह—आसक्ति रहित है, वही भिक्षु है।[2]

(२)

भिक्खु बुद्धस्स सावको सक्कारं नाभिनन्देय्य विवेकमनुब्रूहये।

—ध० प० ५, १६

बुद्ध का शिष्य भिक्षु सत्कार की कामना न करे। वह अपने विवेक की वृद्धि करता रहे।

(३)

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वथा॥

—म० स्मृ० २, १६२

ब्राह्मण सम्मान से सदा विष की तरह घबराता रहे और वह अपमान की अमृत की तरह सदा आकांक्षा करता रहे।

---

१. प्राण जाय पर प्रण नहीं जाइ। —रा० च०

२. तुम तुम्हारी वाहवाही में मत भूलो क्योंकि इससे साधुता नहीं आती। —बा० ८

(२)

उस्सदं भिक्खु न करेय्य कुहिं च । —सु० नि० ५२, ६

भिक्षु कहीं भी उत्सुकता न दिखलाए, तृष्णा न करे ।

(३)

न जातु स्यात् कुतूहली । —म० स्मृ० ४, ६३

कभी भी कुतूहली न बने ।

बीस

(१)

समलेट्ठु-कंचणो भिक्खू । —उत्त० सू० ३५, १३

भिक्षु पत्थर और सोने को समान देखे ।

तणकणए समभावा, पव्वज्जा एरिसा भणिया ।

—बोध० ४७

तृण और कनक (सोना) में जब समान बुद्धि रहती है, तभी उसे प्रव्रज्या (दीक्षा) कहा जाता है ।

(३)

समलोष्टाश्मकाञ्चन । —गी० १४, २४

योगी वही है, जो पत्थर और सोने में सम बुद्धि रखे ।

इक्कीस

(१)

जहा पोमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा ।

—उत्त० सू० २५, २७

साधक को जल में कमल की तरह संसार में निर्लेप रहना चाहिए ।

(२)

नो लिम्पति लोकेन तोयेन पदुमं यथा। —थे० गा० ७०४

विद्वान् पानी में कमल की तरह लोक में लिप्त नहीं होता।

(३)

पद्मपत्रमिवाम्भसा। —गी० ५, १०

साधक पानी में कमल की तरह संसार में निर्लिप्त रहे।[1]

बाईस

(१)

असंविभागी नहु तस्स मोक्खो।

—द० सू० ९, २, २२

जो भिक्षु भोजन में अपने साथियों को संविभाग—हिस्सा नहीं देता, उसकी मुक्ति नहीं होती।

(२)

एको भुञ्जति सादूनि तं पराभवतो मुखं।

जो अकेला स्वादिष्ट भोजन करता है, (इससे) वह अवनति की ओर बढ़ता है।

(३)

केवलाघो भवति केवलादी। —ऋ० वे० १०, ११७, ६

अकेला खाने वाला केवल पाप खाता है।

तेवीस

(१)

का अरइ के आणंदे। —आचा० सू० १, ४, ३

ज्ञानी के लिए अरति क्या है और आनन्द क्या है?

---

१. ब्रह्मज्ञानी सदा निरलेप, जैसे जल महीं कमल अलेप।

—सु० म० सा० १, ६

निर्भय और विद्वान् शिष्य गुरु-जनों के कठोर अनुशासन को भी हित-कारी मानते हैं।

(२)

सतं हि सो पियो होति, असतं होति अप्पियो।

—थे० गा० ९९७

गुरु का अनुशासन सत् शिष्य के लिए प्रिय और असत् शिष्य के लिए अप्रिय होता है।

(३)

रोषोऽपि निर्मलधियां रमणीय एव।
काश्मीरजस्य कटुताऽपि नितान्तरम्या॥

—भा० वि० १, ६९

केसर की कटुता की तरह शुद्धचेता हितकारी जनों का रोष भी रमणीय ही होता है।

पच्चीस

(१)

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं॥

—द० सू० १, २

भौंरा वृक्ष के पुष्पों को संक्लेश नहीं देता हुआ रस ग्रहण करता है, अपने को परितृप्त करता है, वैसे ही साधु अपनी जीवन यात्रा निभाए।

(२)

यथापि भमरो पुप्फं, वण्णगंधं अहेठयं।
पलेति रसमादाय, एवं गामे मुनी चरे॥ —ध० प० ४, ६

जिस प्रकार भौंरा फूल के वर्ण और गन्ध को बिना हानि पहुंचाए रस को लेकर चल देता है, वैसे ही गांव में मुनि विचरण करे।

(३)

यथा मधु समादत्ते, रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य, आदद्याद् अविहिंसया ॥

—म० भा०

भौंरा फूलों की रक्षा करता हुआ जैसे मधु-संग्रह करता है, वैसे ही मनुष्य किसी को कष्ट नहीं देता हुआ (अर्थार्जन करे)।

छब्बीस

(१)

जे य कंते पिये भोये, लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोये, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥

—द० सू० २, ३

जो मिले हुए कान्त एवं प्रिय भोगों को स्वाधीनता से ठुकराता है, वही सच्चा त्यागी है।

(२)

यो ह वे दहरो भिक्खु, युञ्जति बुद्धसासने ।
सो इमं लोकं पभासेति, अब्भामुत्तो व चन्दिमा ॥

—ध० प० २५, २३

जो भिक्षु यौवन में बुद्ध-शासित धर्म में संलग्न होता है, वह मेघों से मुक्त चन्द्रमा की भाँति इस लोक में प्रकाशित—सुशोभित होता है।

(३)

ते धन्यास्ते महात्मानस्त एव पुरुषा भुवि ।
ये सुखेन समुत्तीर्णाः, साधो ! यौवन-संकटम् ॥

—यो० वा० २, ८८

जो आसानी से यौवन के संकट को पार कर जाते हैं, वे ही पुरुष इस धरा पर वन्दनीय हैं, महात्मा हैं।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।

—गी० १८, २

फलाशायुक्त कर्मों के त्याग को ही विद्वान् संन्यास कहते हैं।

नवे वयसि यः शान्तः, स शान्त इति मे मतिः।
धातुषु क्षीयमाणेषु, शमः कस्य न जायते ॥

—सु० र० भा० १३४ पृष्ठ २४१

जो यौवन में शान्त—शान्तियुक्त—वैराग्ययुक्त है, वस्तुतः वही शान्त है। शक्तियां क्षीण हो जाने पर किसको वैराग्य नहीं आता।[1]

सत्ताईस

(१)

जाणं वा नो जाणंति वदेज्जा।

—आचा० सू० २, २

जहां अनर्थ की संभावना हो, वहां मुनि स्थिति को जानता हुआ भी मौन रहे।

(३)

ज्ञानवानपि मेधावी, जडवत् समुपाविशेत्।

—म० भा० शान्तिपर्व २८७, ३५

(जहां अन्याय की आशंका हो, वहां) ज्ञानवान्, मेधावी निर्जीव की तरह चुप्पी साध ले।

जानन्नपि हि मेधावी, जडवल्लोकमाचरेत्। —म० स्मृ० २, ११०

(अन्याय की आशंका हो, वहां) मेधावी—ज्ञानी जानता हुआ भी जडवत् मौन-भाव से रहे।

---

१. नारि मुइ घर सम्पत्ति नासी।
मूंड मुंडाय भये संन्यासी ॥ —रा० च०

मुझ से लगन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिए यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर। ऐसा करता हुआ तू मुझे ही प्राप्त करेगा, यह मेरी प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय है।

तीस

(१)

इंगियागार-संपण्णे, से विणीए त्ति वुच्चइ।

—उत्त० सू०, १२

गुरु के इंगित तथा आकार—मनोभावों को जानकर कार्य करने वाला विनीत कहलाता है।

(२)

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः।

—गी० १२, १४

जिसने मुझे अपनी बुद्धि और मन अर्पित कर दिया, वही मेरा प्रिय भक्त है।

●

मुझ से लगन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिए यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर। ऐसा करता हुआ तू मुझे ही प्राप्त करेगा, यह मेरी प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय है।

तीस

(१)

इंगियागार-संपण्णे, से विणीए त्ति वुच्चइ।

—उत्त० सू०, १२

गुरु के इंगित तथा आकार—मनोभावों को जानकर कार्य करने वाला विनीत कहलाता है।

(२)

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः।

—गी० १२, १४

जिसने मुझे अपनी बुद्धि और मन अर्पित कर दिया, वही मेरा प्रिय भक्त है।

●

जब दृष्टि केवल ऐहिक भोग पर टिक जाती है, तब मनुष्य की तृष्णा बढती है और वह इतना कुछ सञ्चित कर लेना चाहता है कि उन भोगो मे कोई कमी न आ पाए। इतना ही क्यो, वह अपनी आगे की सात पीढियो तक की व्यवस्था कर जाना चाहता है, जिससे उसके वंशज सुखोपभोग से वञ्चित न रहे। यो तृष्णा का ससार इतना अधिक विस्तार पा लेता है कि जीवन भर व्यक्ति उससे छूट नही पाता।

यह असम्यक् जीवन का चित्र है, जिसमे केवल पाशविक कामनाएँ ही पोषण पाती है। विवेक की आँख से देखने पर इस एषणा, भोग और वासना-मय जीवन का एक दूसरा पक्ष भी है, जो दु:खमय है, जिसे देखकर शाक्य-कुमार गौतम (बुद्ध) का हृदय तिलमिला उठा था। मनुष्य क्यो भूल जाता है, वह रुग्ण होगा, अशक्त होगा, वृद्ध होगा, उसकी सभी इन्द्रिय-शक्तिया क्षीण हो जायँगी और एकदिन अपने मित्रों, स्नेहियो एव कुटुम्बी जनो को छोडकर वह चल बसेगा। रोग, शोक, बुढापा और मृत्यु इनसे होने वाले दु खो मे कोई भी उसका साथ नही दे पायेगे।

मोहवश मनुष्य अपने प्रियजनो, सम्बन्धियो एव सुहृदो के सुख के लिए अनेक पाप-कार्य करता है। क्या उसे नही मालूम, पापो के फल-भोग मे वे उसका कोई हिस्सा नही बँटायेगे। अपने द्वारा आचरित पाप-कर्मो का फल स्वय उसे ही भोगना होगा।

उद्बुद्धचेता सत्पुरुष मानव को मोह एव रागमय बन्धनो से छुडाने के लिए सदा उद्बोध देते रहे है। उनकी वैराग्यमय वाणी मे जहाँ रागान्ध और मोहान्ध जीवन की भर्त्सना है वहाँ वीतराग-भाव की ओर अग्रसर होने का एक दिशा-दर्शन भी है।

एक

(१)

दुमपत्तए पंडुरए जहा, णिवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए॥

—उत्त० सू० १०, १

जिस प्रकार समय बीतने पर वृक्ष का पत्ता पक कर गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन नश्वर है। अतः गौतम ! समय मात्र (क्षण भर) भी प्रमाद मत कर।

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ॥

—उत्त० सू० १४, २५

जो रातें बीत जाती हैं, वे फिर लौटकर नहीं आतीं। किन्तु जो धर्म का आचरण करता रहता है, उसकी रातें सफल बीतती हैं।

(२)

फलानामिव पक्कानं, पातो पपतना भयं।
एवं जातानं मच्चानं, निच्चं मरणतो भयं॥ —सु० नि० ३४, ३

जिस प्रकार पके फलों को नित्य गिरने का भय रहता है, उसी प्रकार मनुष्यों को मृत्यु का भय बना रहता है।

(३)

अत्येति रजनी या तु, सा न प्रतिनिवर्तते। —वा० रा० १०६, १६

जो रात गुजर जाती है, वह फिर कभी लौटकर नहीं आती।

दो

(१)

माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
णालं ते मम ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा॥

—उत्त० सू० ६, ३

विवेकी पुरुष विचार करे अपने कर्मों के कारण दुःख पाते हुए मेरा त्राण—रक्षा करने में माता, पिता, पुत्रवधू, भाई, पत्नी और औरस-पुत्र—ये कोई भी समर्थ नहीं हैं।

डहरा वुड्ढा य पासह, गब्भत्था वि चयंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवं आउखयंमि तुट्टई॥

—सू० कृ० १, २, १, २

देखो! युवक और वृद्ध, यहां तक कि गर्भस्थ बालक भी चल बसते हैं। जैसे बाज चिड़िया पर झपट कर उसे उठा ले जाता है, वैसे ही आयुष्य पूर्ण होने पर काल पकड़ कर ले जाता है।

(२)

तेम मच्चुपरेतानं, गच्छन्तं परलोकतो।
न पिता तायते पुत्तं, ञाति वा पनञातके॥

- सु० नि० ३४, ६

मृत्यु के वश होकर परलोक जाने वालों में से न तो पुत्र का पिता त्राण—रक्षा कर सकता है और न किसी जातीय जन की जातीय लोग ही रक्षा कर पाते हैं।

न सन्ति पुत्ता ताणाय, न पिता नपि बन्धवा।
अन्तकेनाधिपन्नस्स, नत्थि ञातिसु ताणता॥

—ध० प० २०, १६

मृत्यु आजाने पर पुत्र, पिता, बान्धव तथा जातीय-जन कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकते।

का तव कान्ता कस्ते पुत्रः, संसारोऽयमतीव विचित्रः।

—मो० मु० ३

यह संसार अत्यन्त विचित्र है। न तो कोई किसी की स्त्री है और न कोई किसी का पुत्र।

तीन

(१)

पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेण-बुब्बुय-सण्णिभे ।

—उत्त० सू० १६, १४

यह शरीर पानी के बुद्बुद् की तरह नश्वर है। इसे पहले या पीछे छोड़ना तो है ही।

(२)

फेणूपमं कायमिमं विदित्वा । —ध० प० ४, ३

इस काया को पानी के फेन (झाग) की भाँति नश्वर समझकर मृत्यु से छूटने का प्रयत्न करो।

(३)

नलिनी-दल-गत-जलमति तरलं ।
तद्वज्जीवितमतिशयचपलम् ॥ —मो० मु० ५

कमलिनी के पत्ते पर टिके हुए अत्यन्त तरल जल-बिन्दु की तरह यह जीवन अतिशय चञ्चल—क्षणभंगुर है।

नलिनी-दल-गत-जल-लव-तरलं किं, यौवनं धनमथायुः ।

—प्र० र०, अमोघवर्ष

कमलिनी के पत्ते पर गिरी हुई पानी की बूंद के समान चञ्चल क्या है? यौवन, धन और आयु।

चार

तीन

(१)

पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेण-वुव्वुय-सण्णिभे ।

—उत्त० सू० १६, १४

यह शरीर पानी के बुद्बुद् की तरह नश्वर है। इसे पहले या पीछे छोड़ना तो है ही।

(२)

फेणूपमं कायमिमं विदित्वा । —ध० प० ४, ३

इस काया को पानी के फेन (झाग) की भाँति नश्वर समझकर मृत्यु से छूटने का प्रयत्न करो।

(३)

नलिनी-दल-गत-जलमति तरलं ।
तद्वज्जीवितमतिशयचपलम् ॥ —मो० मु० ५

कमलिनी के पत्ते पर टिके हुए अत्यन्त तरल जल-बिन्दु की तरह यह जीवन अतिशय चञ्चल—क्षणभंगुर है।

नलिनी-दल-गत-जल-लव-तरल किं, यौवनं धनमथायुः ।

—मू० र०, अमोघवर्ष

कमलिनी के पत्ते पर गिरी हुई पानी की बूंद के समान चञ्चल क्या है ? यौवन, धन और आयु।

चार

(१)

उविच्च भोगा पुरिसं चयंति ।
दुम जहा खीणफलं व पक्खी ॥ —उत्त० सू० १३, ३२

मनुष्य का वैभव नष्ट हो जाने पर सगे-सम्बन्धी उसे उसी प्रकार छोड़-

तीन

(१)

पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेण-बुब्बुय-सण्णिभे ।

—उत्त० सू० १६, १४

यह शरीर पानी के बुद्बुद् की तरह नश्वर है। इसे पहले या पीछे छोड़ना तो है ही।

(२)

फेणूपमं कायमिमं विदित्वा । —ध० प० ४, ३

इस काया को पानी के फेन (झाग) की भाँति नश्वर समझकर मृत्यु से छूटने का प्रयत्न करो।

(३)

नलिनी-दल-गत-जलमति तरलं ।
तद्वज्जीवितमतिशयचपलम् ॥ —मो० मु० ५

कमलिनी के पत्ते पर टिके हुए अत्यन्त तरल जल-बिन्दु की तरह यह जीवन अतिशय चञ्चल—क्षणभंगुर है।

नलिनी-दल-गत-जल-लव-तरल किं, यौवनं धनमथायुः ।

—सू० र०, अमोघवर्ष

कमलिनी के पत्ते पर गिरी हुई पानी की बूंद के समान चञ्चल क्या है? यौवन, धन और आयु।

चार

(१)

उविच्च भोगा पुरिसं चयंति ।
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥ —उत्त० सू० १३, ३२

मनुष्य का वैभव नष्ट हो जाने पर सगे-सम्बन्धी उसे उसी प्रकार छोड़-

(२)

पुप्फानि हेठ पचिनन्त, व्यासत्त' मनस नर।
सुत्तं गाम महोघो' व, मच्चु आदाय गच्छति ॥

—ध० प० ४, ४

जैसे जल-प्रवाह सोये हुए गांव को बहाकर ले जाता है, वैसे ही मृत्यु आसक्त पुरुष को लेकर चली जाती है।

(३)

सुप्त व्याघ्रो मृगमिव, मृत्युरादाय गच्छति।[1]

—म० भा० शान्तिपर्व १७५, १८

सोये हुए मृग को सिंह की तरह मृत्यु प्राणी को ले जाती है।

आठ

(१)

निव्वेएणं सव्व विसएसु विरज्जइ सिद्धिमग्ग पडिवन्ने य हवइ।

—उत्त० सू० २६, २

निर्वेद ग्लानि से सब विषयों के प्रति विरक्ति होती है और फिर मुक्ति भी।

(२)

निब्बिदं विरज्जति विरागा, विरागा विमुच्चतीति।

—म० नि० १, ३२

निर्वेद से वैराग्य और वैराग्य से मुक्ति होती है।

(३)

संसारहृत कः ? श्रुतिजात्मबोधः। —म० प्र०

---

1. महाभारत में जहाँ मेधावी नाम का पुत्र अपने पिता को जीवन की असारता बतलाता है, वहाँ उत्तराध्ययन में यह उपदेश अपने भाई ब्रह्मदत्त को चित्त मुनि देते हैं।

संसार—जन्म-मरण का अवसान करने वाला मुक्ति देने वाला कौन है ? शास्त्रानुशीलन से उत्पन्न आत्म-ज्ञान ।

नौ

(१)

एगे अहमंसि, न मे अत्थि कोइ, न याहमवि कस्स वि ।

—आचा० सू० १, ८, ६,

मैं (आत्मा) अकेला ही हूँ । न कोई मेरा है और न मैं किसी का ।

(२)

ने तं ममं नसोऽहमस्मि । —म० नि० १, ४, ५

वह मेरा नहीं है और मैं भी उसका नहीं हूँ ।

(३)

अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ।

म० भा० शान्तिपर्व १७४, १४

मैं अकेला हूँ, न तो कोई दूसरा मेरा है और न मैं किसी का ।

दस

(१)

तं इक्कग तुच्छ सरीरगं से ।
चिईगयं दहिउ पावगेणं ॥

—उत्त० सू० १३, २५

हा हन्त ! अपने प्रिय से भी प्रिय के शरीर को मरे-सम्बन्धी चिता में जला देते हैं ।

(२)

अपविद्धो मुसानस्मि, अनपेक्खा होन्ति ञातयो ।

(३)

अनुगम्य विनाशान्ते, निवर्तन्ते ह बान्धवाः।
अग्नौ प्रक्षिप्य पुरुषं, ज्ञातय सुहृदस्तथा ॥

—म० भा० शान्तिपर्व ३२१, ७, ४

मरने के बाद सगे-सम्बन्धी भी श्मशान तक जाकर उसे अग्नि मे डालकर वापिस आ जाते है।

ग्यारह

(१)

मा वन्तं पुणो वि आविए। —उत्त० सू० १०, २९

छोडे हुए ऐहिक सुखो को वमन समझ कर उनसे दूर रहो, फिर उधर न मुडो।

वन्तं इच्छसि *आवेउं*, सेयं ते मरणं भवे।

द० सू० २, ७

उन भोगो को, जिनका तू वमन कर चुका है अर्थात् जिन्हे त्याग चुका है, पुनः अपनाना चाहता है, इससे तो तेरा मर जाना ही कही ज्यादा अच्छा है।

(३)

....श्व वान्तमश्नाति, श्वा वै नित्यमभूतये।

—म० भा० उद्योग पर्व २२, ३३

कुत्ता ही अपना वमन (उल्टी) स्वयं खाता है,

बारह

(१)

न सा जाइ न सा जोणि, न तं ठाणं न तं कुल।
न जाया न मुया जत्थ, सव्वे जीवा अणन्तसो ॥

—प्रकीर्णक

ऐसी कोई जाति, योनि, स्थान और कुल नही है, जहां जीव अनेक बार न जन्मे हो, न मरे हों।

जब तक बुढ़ापा नहीं सताता, रोग नहीं बढ़ते, इन्द्रियां हीन—अशक्त नहीं हो जाती, तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए।

(३)

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो, वृद्धः सन् किं करिष्यसि।
स्वगात्राण्यपि भाराय, भवन्ति हि विपर्यये॥
—म० भा० शान्तिपर्व २७७, १४

जो अपने लिए श्रेयस्—कल्याणकारी है, वह आज ही करो। वृद्ध होकर क्या करोगे। क्योंकि वृद्धावस्था में अपना शरीर भी भारभूत हो जाता है।

न व्याधयो नापि यमः प्राप्तुं श्रेयः प्रतीक्षते।
यावदेव भवेत् कल्पस्तावच्छ्रेयः समाचरेत्।
—म० भा० सभापर्व ५६, १०

रोग और यम (मृत्यु) इस बात की प्रतीक्षा नहीं करते कि इसने श्रेय प्राप्त कर लिया है या नहीं। अतः जब तक अपने में सामर्थ्य हो, बस, तभी तक अपने हित का साधन कर लेना चाहिए।

चवदह

(१)

अलं विवाएण। —नि० भा० २६१३

किसी के साथ विवाद नहीं करना चाहिए।

विवायं च उदीरेइ पावसमणे त्ति वुच्चई। —उत्त० सू० १७, १२

जो विवाद करता है, वह पापी साधु है।

(२)

विवादेन खिसा होन्ति। – जा० मू० ७, ४००, ३७

विवाद से सभी जन क्षीण हो जाते हैं।

(३)

शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित् सह। —म० स्मृ० ४, १३९

शुष्क (निष्प्रयोजन) वैर और विवाद किसी के भी साथ नहीं करना चाहिए।

१७ ‖ नीति और उपदेश

मनुष्य वैयक्तिक व सामाजिक दृष्टि से सुखी एवं सन्तुलित रह सके, इसके लिए जीवन में एक व्यवस्था तथा सुनियोजित कार्य-विधि चाहिए, जिससे व्यक्ति का आन्तरिक विकास भी सधता जाए और पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय किंवा लौकिकजीवन भी उन्नत बन सके। ऐसी व्यवस्थित जीवन-विधि अपनाने का अर्थ होगा, मनुष्य अपने वैसे किसी हित की ओर प्रवृत्त नहीं होगा, जिसमें दूसरे का अहित फलता है। इसकी प्रतिक्रिया बड़ी सुखद होगी। दूसरा भी अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते सदा जागरूक रहेगा कि उससे किसी का बुरा न हो जाए। इससे पारस्परिक मैत्री और ऐक्य की भावना बढ़ती है, जिसका आन्तरिक एवं लौकिक दोनों दृष्टियों से बड़ा अच्छा फल आता है।

सत्पुरुषों की संगति करना, किसी के साथ दुर्व्यवहार नहीं करना, प्रमाद, आलस्य आदि का त्याग करना, गुरु-जनों, बड़ों का सम्मान करना, रहन-सहन, खान-पान, बातचीत आदि सभी दैनन्दिन कार्यों में परिष्कार लाना, चञ्चल व अस्थिर-मनोवृत्ति का त्याग करना, निन्द्यकर्मों से परे रहना, अपने उच्च ज्ञान के अनुरूप कर्म में उच्चता लाना—आदि ऐसे क्रम हैं, जिनसे जीवन में सुव्यवस्था एवं संयमन का संचार होता है। एक शब्द में कहें तो इन सबको नीति कहा जा सकता है। नीति वह है, जो मनुष्य को सत् की ओर ले जाती है।

जब तक नीति का आदर नहीं होता, जीवन अव्यवस्थित और असन्तुलित रहेगा। इसलिए जो सुखी जीवन जीना चाहते हैं, उन्हें नीति-मार्ग को जानना चाहिए, उस पर चलना चाहिए।

एक

(१)

कुज्जा साहूहि संथव । द० सू० ८, ५३

मुनि-साधु—सभ्य जनों के साथ ही परिचय करे ।

(२)

सब्भिरेव समासेथ, पण्डितेहत्थदस्सिभि ।

—थे० गा० ७

विद्वान् और आत्म-हितैषी को सत्पुरुषों के ही साथ रहना चाहिए ।

(३)

सद्भिरेव सहासीत, सद्भि कुर्वीत संगतिम् ।

—मु० र० भा० २३६, ३

सत्पुरुषों के साथ बैठना चाहिए । उन्हीं की संगति करनी चाहिए ।

चकास्ति योग्येन हि साधु-सङ्गम । —नै० च०

योग्य व्यक्ति का संग उत्तम है—शोभनीय है ।

दो

(१)

न बाहिरं परिभवे । —द० सू० ८, ३०

किसी का भी अपमान नहीं करना चाहिए ।

(२)

नातिमञ्ञेथ कत्थं चिन कञ्चि । —सु० नि० ८, ६

कहीं पर भी किसी का अपमान नहीं करना चाहिए ।

(३)

नावमन्येत कञ्चन । —म० स्मृ० ६, ४७

किसी की भी अवमानना—तिरस्कार नहीं करना चाहिए ।

:न

(१)

अलं बालस्स संगेण । —आचा० सू० १, २, ५

अज्ञानी का संग मत करो।

(२)

कयिरा नत्थि बाले सहायता । — ध० प० ५, २

अज्ञानी का साथ नहीं करना चाहिए।

(३)

वासो न संगः सह कैर्विधेयो,
मूर्खैश्च नीचैश्च खलैश्च पापैः। गं० प्र० १७

किनका संग नही करना चाहिए ? मूर्ख, नीच, दुष्ट और पापी जनों का।

न परिचयो मलिनात्मनां प्रधानम्। —शि० वि०

मलिनात्माओं - दुष्टों का संसर्ग अच्छा नहीं है।

वार

(१)

मियं अदुट्ठं अणुवीय भासए। — द० सू० ७, ५५

विचारपूर्वक मित—थोड़ा, अदुष्ट—निर्दोष—सुन्दर बोलना चाहिए।

सच्चं च हियं च मियं च गाहणं च। —प्र० व्या० २, २

ऐसा सत्य वचन बोलना चाहिए जो हित, मित और ग्राह्य हो।

(२)

सात

(१)

जस्संतिए धम्म-पयाइं सिक्खे,
तस्संतिए वेणइयं पउंजे। —द० सू० ६, १, १२

जिनके पास धर्म का पाठ सीखे, उनके प्रति विनय करे।

(२)

यस्माहि धम्मं पुरिसो विजञ्ञा।
इन्दं व तं देवता पूजयेय॥

—सु० नि० २०, १

मनुष्य जिनसे धर्म सीखे, उनकी पूजा वैसे ही करनी चाहिए जैसे देवता इन्द्र की करते हैं।

(३)

आददीत यतो ज्ञानं, तं पूर्वमभिवादयेत्।

—म० स्मृ० २, ११७

जिनसे ज्ञान सीखे, उनका अभिवादन—वन्दन करना चाहिए।

आठ

(१)

बहुं सुणेहि कन्नेहि, बहुं अच्छिहि पिच्छई।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं भिक्खु अक्खाउ मरिहई॥

—द० सू० ८, २०

मुनि कानों से बहुत सुनता है, आंखों से बहुत देखता है, किन्तु देखा-सुना सब कहने योग्य नहीं होता।

(२)

सव्वं सुणाति सोतेन, सव्वं पस्सति चक्खुना।
न च दिट्ठं सुत्तं धीरो, सव्वमुज्झितुमरहति॥

—थे० गा० ५०३

कीचड़ में मेढक बनना अच्छा है, विष्ठा का कीड़ा बनना अच्छा है और अंधेरी गुफा में साप होना भी अच्छा है, पर मनुष्य का अविरागी होना अच्छा नहीं है।

दस

(१)

वाया वीरियं कुसीलाणं। —सू० कृ० १, ४, १, १७

दुःशील केवल वचन-वीर (गप्पी) होते हैं।[1]

(२)

अकरोन्तं भासमानं परिजानन्ति पण्डिता।

—सु० नि० १५, २

जो बोलता है पर करता नहीं है, विद्वान् उसकी निन्दा करते हैं।

यदूनकं तं सणति, यं पूरं संतमेव त।
अड्ढकुम्भूपमो बालो, रहदो पूरो व पंडितो।

सु० नि० ३, ३७, ४३

जो अपूर्ण है, वह आवाज करता है, और जो पूर्ण है वह शान्त—मौन रहता है। मूर्ख अध भरे जल-घट के समान है और पंडित लबालब भरे जलाशय के समान।

(३)

वाग्वैखरी शब्द-झरी, शास्त्र-व्याख्यान-कौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वत्, भुक्तये न तु मुक्तये॥

—शंकराचार्य

वाणी का अस्खलित प्रवाह चलता हो ऐसा भाषण, शास्त्रों के पढ़ाने-समझाने का कौशल और विद्वान् पुरुषों की विद्वत्ता केवल भुक्ति—

१. (क) पर-उपदेस कुसल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे। —रा० च०
(ख) पण्डित सोइ जो गाल बजावा। —रा० च०

भोग—यश के लिए होती है, मुक्ति के लिए नहीं।

ब्रुवते हि फलेन साधवो, न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम्।

—नै० च०

सत्पुरुष वाणी से अपनी उपयोगिता नहीं बताते। वे फल—कार्य से अपनी उपयोगिता बताते हैं।

पण्डितोऽस्मीति वाचाल:। —सू० श० १७

पण्डित हूँ, वह केवल वाचाल है।

जो मनुष्य विना पूछे अपने शीलव्रतों की चर्चा करता है, आत्म प्रशंसा करता है, उसे ज्ञानियों ने अनार्य धर्म-निम्न आचरण कहा है।

(३)

आत्मा न स्तोतव्यः। —चा० सू० ५०९

अपनी स्तुति—बड़ाई नहीं करनी चाहिए।

तेरह

(१)

अचवले। —द० सू० ८, २९

मुनि अचपल—चञ्चलतारहित हो।

(३)

…सर्वाणि कार्याणि, चपलो हन्त्यसंशयम्।

—म० भा० शान्तिपर्व १३८, १७०

चपल व्यक्ति निश्चय ही सभी कार्य बिगाड़ देता है।

उत्तापकत्वं हि सर्वकार्येषु प्रथमोऽन्तरायः।

—नी० वा० १०, १३३

उत्तेजित होना सभी कार्यों में पहला विघ्न है।'

चवदह

(२)

यदत्तगरही तदकुब्बमानो ।
न लिम्पती दिट्ठसुतेसु धीरो ॥ —म० नि० ११, २३२

जो अपनी भूलों पर पश्चात्ताप करके उन्हें दुबारा नहीं करता है, वह धीर पुरुष दृष्ट तथा श्रुत किसी भी विषय-भोग में लिप्त नहीं होता।

(३)

अज्ञानाद् यदि वा ज्ञानात्, कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयन्न समाचरेत् ॥
—म० भा०

जान में या अनजान में पाप-कर्म करके यदि कोई मनुष्य उससे मुक्ति पाना चाहे तो दूसरी बार वैसा न करे।

पन्द्रह

(१)

जस्स नत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कुओ सिया ।
—आचा० सू० १, ४, ४

जिसके आदि-अन्त में (पहले-पीछे) कुछ नहीं रहा, उसके बीच में क्या हो सकता है।

(२)

मज्झे वे नो गेहस्ससि, उपसन्तो चरिस्ससि ।
—सु० नि० ५३, १५

पहले को त्याग दो, बाद को न अपनाओ, बीच में ग्रहण न करो। इस प्रकार उपशान्त होकर विचरण करो।

(३)

नैवाग्रं नावरं यस्य, तस्य मध्यं कुतो भवेत् ।
—मा० का० १२, २

जिनके न पहले है और न पीछे, उसके बीच में भी कुछ नहीं है।

सोलह

(१)

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे॥

—द० सू० ४, ११

कल्याण और पाप-कर्म का ज्ञान सुनने से ही होता है। सुनकर दोनों को जानो और फिर जो श्रेयस्कर लगे, उसका आचरण करो।

(२)

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव, मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

—गी० १३, २५

जो नहीं जानते हैं, वे जानने वालों से सुनकर तत्त्व का विचार करते हैं। जो सुनने में तत्पर हैं, वे मृत्यु को तर जाते हैं।

सतरह

(३)

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः ?

—शंकराचार्य

त्रिगुणातीत मार्ग में विचरण करने वालों के लिए क्या तो विधि है और क्या निषेध है ?

अठारह

(१)

उद्देसो पासगस्स नत्थि । —आचा० सू० २, ३

जो स्वयं द्रष्टा है, उसे उपदेश की आवश्यकता नहीं।

(२)

तेसं नत्थि पञ्ञापनाय । —उदान ६, ८

जो पूर्ण (निवृत्त) है, उसके लिए उपदेश कुछ भी नहीं रहा।

(३)

सुज्ञेषु किं बहुना । —सुभाषित

समझदार के लिए अधिक क्या।

उन्नीस

(१)

जीवो पमायबहुलो । —उत्त० सू० १०, १५

जीव बहुत प्रमादी—आलसी है।

(२)

निद्रालस्य प्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् । —गी० १८, ३९

निद्रा, आलस्य और प्रमाद से प्राप्त सुख तामस् (तमोगुण निष्पन्न) सुख कहा गया है।

मनुष्याः स्खलनशीलाः । सुभाषित

मनुष्यों से स्खलन—भूल होती रहती है।

(३)

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः ?

—शंकराचार्य

त्रिगुणातीत मार्ग में विचरण करने वालों के लिए क्या तो विधि है और क्या निषेध है ?

अठारह

(१)

उद्देसो पासगस्स नत्थि । —आचा० सू० २, ३

जो स्वयं द्रष्टा है, उसे उपदेश की आवश्यकता नहीं ।

(२)

तेसिं नत्थि पञ्ञापनाय । —उदान ६, ८

जो पूर्ण (निवृत्त) है, उसके लिए उपदेश कुछ भी नहीं रहा ।

(३)

सुज्ञेषु किं बहुना । —सुभाषित

समझदार के लिए अधिक क्या ।

उन्नीस

(१)

जीवो पमायबहुलो । —उत्त० सू० १०, १५

जीव बहुत प्रमादी—आलसी है ।

(२)

निद्रालस्य प्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् । —गी० १८, ३९

निद्रा, आलस्य और प्रमाद से प्राप्त सुख तामस् (तमोगुण निष्पन्न) सुख कहा गया है ।

मनुष्याः स्खलनशीलाः । —सुभाषित

मनुष्यों से स्खलन—भूल होती रहती है ।

(३)

सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं ।
दुःखेन साध्वी लभते सुखानि ॥

—म० भा० वनपर्व २३३, ४

सुख से सुख कभी नही मिलता, साध्वी स्त्री को सुख प्राप्ति के लिए दुःख या कष्ट सहना पडता है ।

छब्बीस

(१)

सुहं वसामो जीवामो, जेसिमो णत्थि किंचण ।
मिहिलाए डज्झमाणीए, ण मे डज्झइ किंचणं ॥

—उत्त० सू० ९, १४

मैं सुख पूर्वक रहता हूँ, सुख से जीता हूँ । मेरा कही कुछ भी नही है । अतएव मिथिला के जलने पर मेरा कुछ भी नही जलता ।

(२)

सुसुखं वत जीवामि, येसं न अत्थि किञ्चनं ।
मिथिलाय डय्हमानाय, न मे किञ्चि अडय्हथा: ॥

—जा० अ० २४५

मैं सुख से जी रहा हूँ । मेरा कुछ भी नही है । जलती हुई मिथिला में मेरा कुछ भी नही जल रहा है ।

(३)

सुसुखं वत जीवामि, यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां, न मे दहति किञ्चन ॥

—म० भा० शान्तिपर्व २७६, ८

मैं सुख से जी रहा हूँ । मेरा कुछ भी नही है । इसलिए मिथिला के जलने पर मेरा कुछ भी नही जलता ।

सताईस

(१)

दाण दरिद्दस्स पहुस्स खंती।
इच्छानिरोहो य मुहोइयस्स॥
तारुन्नए इंदिय-निग्गहो य।
चत्तारि एयाणि सुदुक्कराणि॥ —गौ० कु० १८

दारिद्रय् में भी दानशीलता, प्रभुत्व—अधिकार संपन्न होते हुए भी क्षमाशीलता, सुख के साधनों के बावजूद कामना का निरोध, यौवन में भी इन्द्रियों का निग्रह—भोगों पर नियन्त्रण—इन चार बातों का सधना बहुत दुष्कर है।

(३)

दानं दरिद्रस्य विभोः क्षमित्वं,
यूनां तपो ज्ञानवतां च मौनम्।
इच्छानिवृत्तिश्च सुखोचितानां,
दया च भूतेषु दिवं नयन्ति॥

—प० पु० पाताल खण्ड ९२, ५८

दरिद्र का दान, वैभवयुक्त की क्षमाशीलता, युवाओं का तपः पूर्ण जीवन, ज्ञानियों का मौन, सुख-साधनों से सम्पन्न व्यक्तियों का इच्छा-त्याग, प्राणियों पर दया—ये स्वर्ग प्राप्त कराते है।

अट्ठाईस

(१)

भयवं ! अब्भुट्ठिओहं खामेउं—जं किंचि,
अपत्तियं परपत्तियं भत्ते पाणे विणय-वेयावच्चे।
आलावे संलावे तुब्भे जाणह अहं न याणामि॥

—आ० सू०

यदि मैंने खान-पान, विनय-शिष्टाचार, सेवा, आलाप-संलाप आदि में अविनय आदि किया है तो भगवन् ! उसे आप जानते है, मैं नहीं जानता उसके लिए मैं क्षमा-याचना करने को तत्पर हूँ।

(२)

अजानता महिमानं तवेद, मया प्रमादात् प्रणयेन वापि।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि, विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत ! तत्समक्ष, तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥

—गी० ११, ४१, ४२

मैंने तुम्हारी महिमा को न जानते हुए सखा समझ कर भूल से या स्नेह से जो कुछ कहा हो अथवा खाते, पीते, सोते, बैठते एकान्त में या मित्रों के बीच में मैंने किसी तरह हास-परिहास में तुम्हारा अपमान किया हो तो प्रभो ! उसके लिए मैं तुमसे क्षमा मागता हूँ।

वैदिक परम्परा ब्रह्म-साक्षात्कार, जैन परम्परा आत्म-परिष्कार तथा बौद्ध परम्परा दुःख-परिहार के सन्दर्भ में अग्रसर हुई। इनके तात्त्विक, उपासनात्मक एवं विश्लेषणात्मक जो भी भेद रहे हों पर जहाँ मानव के दैनन्दिन आचार या जीवन-क्रम की बात आई, तीनों का स्वर लगभग एक जैसा निकला, वहाँ सबने उसी तथ्य को सामने रखा, जो जीवन के मौलिक आदर्शों पर टिका है। उदाहरण के रूप में उपस्थित यह प्रकरण उक्त तथ्य पर यथेष्ट प्रकाश डालता है।

वैदिक परम्परा ब्रह्म-साक्षात्कार, जैन परम्परा आत्म-परिष्कार तथा बौद्ध परम्परा दुःख-परिहार के सन्दर्भ में अग्रसर हुई। इनके तात्त्विक, उपासनात्मक एवं विश्लेषणात्मक जो भी भेद रहे हों पर जहाँ मानव के दैनन्दिन आचार या जीवन-क्रम की बात आई, तीनों का स्वर लगभग एक जैसा निकला, वहाँ सबने उसी तथ्य को सामने रखा, जो जीवन के मौलिक आदर्शों पर टिका है। उदाहरण के रूप में उपस्थित यह प्रकरण उक्त तथ्य पर यथेष्ट प्रकाश डालता है।

जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार भोगों में उत्पन्न होकर भी जो उनसे सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं।
असंसत्तं गिहत्थेसु, त वयं बूम माहणं।।

—उत्त० सू० २५, २८

जो लोलुप नहीं है, जो पेट के लिए संग्रह नहीं करता, जो घर बार रहित है, जो अकिञ्चन है, और जो गृहस्थों से आसक्ति नहीं रखता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२)

पसुफूलधर जन्तु, किस धमनिसन्थतं।
एकं वनस्मि झायन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।।

—ध० प० २६, १३

जो फटे-पुराने कपड़े पहने रहता है, कृश है, जिसकी नसें दिखाई देती हैं, जो अकेला वन में ध्यान करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

निधाय दण्डं भूतेसु, तसेसु थावरेसु च।
यो न हन्ति न घातेति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं। —सुत्त० नि० ३५,३६

जो स्थावर और जंगम—सभी प्राणियों के प्रति दण्ड का त्याग कर न तो स्वयं उनका वध करता है और न दूसरों से कराता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

अकक्कसं विञ्ञापनिं, गिरं सच्चं उदीरए।
या य नाभिसजे किञ्चि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।। ३६

जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार भोगों में उत्पन्न होकर भी जो उनसे सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं॥

—उत्त० सू० २५, २८

जो लोलुप नहीं है, जो पेट के लिए संग्रह नहीं करता, जो घर बार रहित है, जो अकिञ्चन है, और जो गृहस्थों से आसक्ति नहीं रखता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२)

पसुफूलधरं जन्तुं, किसं धमनिसन्थतं।
एकं वनस्मिं झायन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

—ध० प० २६, १३

जो फटे-पुराने कपड़े पहने रहता है, कृश है, जिसकी नसें दिखाई देती हैं, जो अकेला वन में ध्यान करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

निधाय दण्डं भूतेसु, तसेसु थावरेसु च।
यो न हन्ति न घातेति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं। —सुत्त० नि० ३५,३६

जो स्थावर और जंगम—सभी प्राणियों के प्रति दण्ड का त्याग कर न तो स्वयं उनका वध करता है और न दूसरों से कराता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

अकक्कसं विञ्ञापनिं, गिरं सच्चं उदीरए।
याय नाभिसजे किञ्चि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३९

जो अकर्कश—मृदु एवं ज्ञानप्रद सत्य वाणी बोलता है, जिससे किसी को चोट नहीं पहुंचती, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

यो च दीघं रस्सं वा, अणुं थूलं सुभासुभं।
लोके अदिन्नं नादियति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ —४०

जो संसार में लम्बी या छोटी, पतली या मोटी, अच्छी या बुरी किसी भी चीज की चोरी नही करता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

हित्वा मानुसकं भोगं, दिब्बं भोगं उपच्चगा।
सब्बभोगविसयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ —४८

जो सब प्रकार के मानुषिक तथा दैविक भोगो—विषयों से अलिप्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

वारि-पोक्खर-पत्तेव, आरग्गे रिव सासयो।
यो न लिप्पति कामेसु, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ —३२

जो पानी मे लिप्त नही होने वाले कमल की तरह और आरे की नोक पर न टिकने वाले सरसों के दाने की तरह विषयो से अलिप्त रहता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

असंसट्ठं गहट्ठेहि, अनागारेहि चूभयं।
अनोकसारिं अप्पिच्छं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ —३५

जो गृहस्थ तथा साधु दोनों मे ही अनासक्त है, घर त्याग कर, अल्पेच्छ होकर विहरण करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(३)

जितेन्द्रियो धर्मपरः, स्वाध्यायनिरतः शुचिः।
कामक्रोधौ वशे यस्य, तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥
—म० भा० २०६, ३५

जो जितेन्द्रिय है, धर्म-परायण है, स्वाध्याय मे रत है, पवित्र है, जिसने काम और क्रोध को वश मे कर लिया है, उसे देवता ब्राह्मण जानते है।

यस्य चात्मसमो लोको, धर्मज्ञस्य मनस्विनः।
सर्वधर्मेषु च रतस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥
—म० भा० वनपर्व २०६, ३६

जिस धर्मज्ञ और मनस्वी के लिए समूचा संसार आत्म-तुल्य है, जो सब धर्मों मे रत है, उसे देवता ब्राह्मण जानते है।

विमुक्तं सर्वसङ्गेभ्यो मुनिमाकाशवत् स्थितम् ।
अस्वमेकचरं शान्तं, तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।

—म० भा० शान्तिपर्व २४५, २२

जो सब आसक्तियों से मुक्त हैं, आकाश की तरह जिसकी वृत्ति व्यापक है, जो अकिञ्चन, एकाकी विहरणशील शान्त है, उसे देवता ब्राम्हण जानते हैं।

अभयं सर्वभूतेभ्यः, सर्वेषामभयं यतः ।
सर्वभूतात्म भूतो यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।

—म० भा० शा० अ० २६९, ३३

जो सबको अभय देता है, सबसे अभय लेता है, सब प्राणियों को आत्मा के समान समझता है, देवता उसे ब्राह्मण कहते हैं।

★

दूसरा अनुशीलन

जैनागम और कुरान

शान्ति की खोज और सत्य की परख का ध्येय लेकर सभी धर्म चले। धर्म-प्रवर्तकों को चिन्तन और अनुभूति द्वारा जैसा आभासित हुआ, उन्होंने अपने धर्म-ग्रन्थों में संजोया।

संसार के धर्मों में इस्लाम का अपना विशेष स्थान है। उसका सर्वमान्य ग्रन्थ कुरानशरीफ है। तत्त्वज्ञान, उपासना और आचार आदि जीवन के विविध पक्षों पर कुरान शरीफ में एक मार्ग दिखाया गया है।

स्पष्ट रूप में जिनसे जीवन की सात्विकता सधती है; पवित्रता पनपती है; उन समता, क्षमा, उदारता, मैत्री आदि गुणों से जीवन को सजाने पर कुरानशरीफ में विशेष जोर दिया गया है। ईर्ष्या, दर्प, परिहास, विश्वासघात, आदि बुराइयों को छोड़ने की ओर कुर'न शरीफ ने लोगों को विशेष रूप से प्रेरित किया है। जन-जन के जीवन से सम्बद्ध ऐसे व्यापक विषयों में जैन-आगमों के साथ कुरानशरीफ का अपने प्रकार का एक साम्य है, जो सभी धर्म-सम्प्रदायों के पाठकों के लिए मननीय है।

(४)

न सिया तोत्त गवेसए। —उत्त० सू० १, ४०

छिद्रान्वेषी मत बनो।

० एक दूसरे की टटोल (दोष ढूँढने) में न रहो।

—सू० हुजुरात ४९ पृष्ठ ७४०

(५)

पिट्ठिमंसं न खाइज्जा। —द० सू० ८, ४७

पीठ का मांस मत खाओ अर्थात् पीठ पीछे चुगली मत करो।

० एक दूसरे की गीबत (पीठ पीछे निन्दा) न करो····क्योंकि यह अपने मुर्दा भाई का मांस खाने जैसा है। —सू० हुजुरात ३९ पृष्ठ ७४०

(६)

सकम्मुणा विप्परियासुवेइ। —सू० कृ० ७, १, ११

अपने किये हुए पापों से पापी कष्ट पाता है।

० प्रत्येक मनुष्य अपने कर्म के विषय में गिरवी है, (जो जैसा करता है वैसा भरता है इस लोक में भी और परलोक में भी।)

—सू० तूर ५२ पृष्ठ ७५१

(७)

अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले।

—द० सू० ५, १, १३

साधु हर्ष और विषाद से मन में ऊँचे और नीचे विचार न लाए।

० कोई चीज तुमसे जाती रहे तो उसका रंज न करो, और नेआयत खुदा तुम पर अता करे तो इतराओ मत। अल्लाह किसी इतराने वाले···· को पसन्द नहीं करता। —सू० हदीद पृष्ठ ७७७

(१२)

इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ति। —द० चू० १, १३

चरित्रहीन का यहाँ (इस लोक में) भी अपयश और अकीर्ति होती है।

० लोगो ! व्यभिचार के पास कभी मत जाया करो। क्योंकि वह निर्लज्जता और बदचलन की बात है। —सू० १७ पृष्ठ ३९७

(१३)

कूडतुल्ल-कूड-माणेणं। —स्था० सू० ४, ४

झूठा नाप व झूठा तोल महापाप का कार्य है।

० लेने-देने में अन्याय न किया करो, किसी को कोई वस्तु नाप-तोल कर देनी हो तो जब नाप करो, पैमाना पूरा कर दिया करो और जब कोई वस्तु तोलनी हो तो ठीक तराजू से तोला करो, यह ही तुम्हारे पक्ष में उत्तम है। और फल की दृष्टि से तुम्हारी व्यक्ति के लिए भी बहुत अच्छा है। कम नापने-तोलने में जो प्रकट रूप से तुमको लाभ प्रतीत हो रहा है, वह फल की दृष्टि से लाभ नहीं वरन् हानि है।

सूरा १७ बनी इस्राइल पृष्ठ ३९७

(१४)

पन्ना समिक्खए धम्मं। —उत्त० सू० २३, २५

बुद्धि से धर्म की परीक्षा करो।

० जिस वस्तु का तुमको ठीक ज्ञान न हो, अटकलपच्चू उसके पीछे न हो लिया करो, वरन् अल्लाहताला ने जो कर्म-इन्द्रियाँ और ज्ञान-इन्द्रियाँ तुम्हें दी हैं, उनसे काम लिया करो।

—सूरा० १७ बनी पृष्ठ ३९०

(१५)

माणेणं अहमागई। —उत्त० सू० ९, ५४

न य माण मएण मज्जई। —द० सू० ९, ४

(१६)

सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं। —आ० सू० सक्कत्थुइ

भगवान सब कुछ जानने व देखने वाले हैं।

० वह अपने बन्दों के वृत्तान्त को अच्छी तरह जानने व देखने वाला है।

—सूरा १७ पृष्ठ ४०६

(२०)

णेव वंफेज्ज मम्मयं। —सू० कृ० १, ६, २५

मर्मकारी वचन नहीं बोलना चाहिए।

० एक दूसरे को ताना न दो। —हुजुरात ४६ पृष्ठ ७४०

(२१)

न असब्भमाहु। —उत्त० सू० २१, १४

असभ्य भाषा मत बोलो।

० एक दूसरे को बुरे-बुरे लकब, बुरे नामों से पुकार कर अपमानित न करो। —सूरा ४६ पृष्ठ ७४०

(२२)

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवंति,
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला भवंति। —उव० सू० ५६

अच्छे कर्मों के अच्छे फल होते हैं और बुरे कर्मों के बुरे फल होते हैं।

० यदि तुम नेकी करोगे तो अपनी ही व्यक्ति के लिए करोगे। और बदी करोगे तो भी अपनी ही व्यक्ति के लिए करोगे। तुम्हारी नेकी या बदी से लाभ व हानि पहुँचेगी तो तुमही को पहुँचेगी, न कि किसी और को। —सूरा० १७ बनी इस्राइल पृष्ठ ३६३

(२३)

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ। —आचा० सू० १, ३, ४

जो एक (स्वयं) को जानता है, वह सबको जानता है।

० अल्लाह् इन्सानों पर किसी तरह का जुल्म नहीं करता, आदमी अपने ऊपर खुद जुल्म करता है। —कु० १०, ४४

(२८)

भोगी भमई संसारे अभोगी विप्पमुच्चई।

—उत्त० सू० २५, ४१

भोगी संसार में भटकता है, अभोगी मुक्त हो जाता है।

० भोग-विलास मनुष्य को सत्य से चलित करते हैं।

—ह० मु० ई० पृष्ठ १३८

(२९)

नमई मेहावी। —उत्त० सू० १, ४५

विद्वान नम्र होता है।

० अल्लाह् ने मुझको हुक्म दिया है कि तू नमकर चल और छोटा बनकर रह। —ह० मु० ई० पृष्ठ १३८

(३०)

सुव्वए कम्मई दिवं। —उत्त० सू० ५, २२

जो सुव्रती है—सद्व्रतों को पालता है, वह स्वर्गगामी होता है।

० मैं कहता हूँ, जो मनुष्य शांत, सदाचारी है और दूसरों को तकलीफ नहीं देता, वह नरक में नहीं जाता। —ह० मु० ई० पृष्ठ १३९

(३१)

चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो, चउक्कसायावगए स पुज्जो।

—द० सू० ९, ३, १४

क्रोध, मान, माया एवं लोभ को छोड़कर जो मन, वचन एवं कर्म से संयत है, पांच महाव्रतों में रत—संलग्न है, वही पूज्य है।

० तुम लोगों में सबसे बड़ा वह है, जो सबसे बड़ा भला और संयमी है।

—ह० मु० इ० पृष्ठ १२८

(१)

नाइवाएज्ज कंचणं। —आचा० सू० १, २, ३

किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

अरए पयासु। —आचा० सू० १, ३, २

प्रजाओं से—स्त्रियों से तत्व-दर्शी पुरुषों को दूर रहना चाहिए।

अदत्तस्स विवज्जणं। —उत्त० सू० १६, ३०

विना दी हुई वस्तु न लें।

सव्वारम्भ-परिच्चाओ णिम्ममत्तं।

—उत्त० सू० १६, ३१

सभी आरम्भ परिग्रह का त्याग करना। और निर्ममता तथा अनासक्त भाव से रहना ही निष्परिग्रह व्रत है।

× × ×

तू हिंसा न कर।

तू व्यभिचार न कर।

तू चोरी न कर।

तू अपने पड़ौसी के विरुद्ध असत्य साक्षी न दे।

तू अपने पड़ौसी के घर, उसकी स्त्री, उसके नौकर, नौकरानी, उसके बैल, गदहा तथा उसकी और भी किसी वस्तु के प्रति लोभ न रख।

—बाइ० नि० २०, १३, १७

(२)

जावन्तऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।

—उत्त० सू० ६, १

जो भी विद्याहीन—तत्व को नहीं जानने वाले पुरुष हैं, वे सब दुःखों के पात्र हैं।

× × ×

ज्ञानी गौरव प्राप्त करते हैं और मूर्ख तिरस्कार।

—बाइ० नीतिवचन ३, ३५

(३)

अलं बालस्स संगेण । —आचा० सू० १, २, ५

अज्ञानी का संग-साथ मत करो ।

× × ×

दुष्टजनों के मार्ग में प्रवेश मत करो और पापी मनुष्यों के पथ पर मत चलो । —बाइ०, नीति वचन ४, १४

(४)

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुंज्जमाणा ।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
एओवमा कामगुणा विवागे ॥

—उत्त० सू० ३२, २०

जिस प्रकार किंपाक फल खाते समय रस और वर्ण से मनोरम होने पर भी पचने पर जीवन का अन्त करते हैं, उसी प्रकार भोगने में मनोहर लगने वाले काम-भोग विपाक-काल में—फल देने की अवस्था में अधोगति के कारण होते हैं ।

× × ×

पर-स्त्री के होठों से मधु टपकता है और उसका मुंह तेल से भी अधिक चिकना—कोमल है, पर उसका परिणाम विष जैसा कटु और दुधारी तलवार जैसा तीक्ष्ण है । —बाइ० नीति वचन ५, ३, ४

(५)

नो निग्गंथे इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं,
मणोरमाइं आलोएज्जा, निज्झाएज्जा ।

—उत्त० सू० १६, ४

जो निर्ग्रन्थ है, ब्रह्मचारी है—ब्रह्मात्मभाव पाने की आकांक्षा रखता है, उसे स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को न तो देखना चाहिए और न उनका ध्यान या चिन्तन ही करना चाहिए ।

अवि हत्थ-पाय छेयाए, अदु वा वद्ध-मंस उक्कंते ।
अवि तेयसाभितावणाणि, तच्छिय खारसिंचणाइ य ॥
— सू० कु० १, ४, १, २१

जो लोग परस्त्री सेवन करते हैं, उनके हाथ-पैर काट लिये जाते हैं। अथवा उनकी चमड़ी और मांस कतर लिये जाते हैं तथा वे अग्नि द्वारा तपाये जाते हैं। उनके अङ्ग काट कर क्षार द्वारा सिञ्चन किया जाता है।

× × ×

नारी के साथ व्यभिचार करने वाला पुरुष अपनी बुद्धि खो देता है। वह यों स्वयं अपना विनाश करने वाला काम करता है।

—वाइ० नी० व० ६, १७-१८

(६)

सवीरिए पराइणइ अवीरिए पराइज्जइ ।

—भ० सू० ७, ८

पराक्रमी विजय पाता है, अपराक्रमी—आलसी पराजित होता है।

× × ×

जो शिथिल या प्रमादी हाथ से काम करता है, वह दरिद्रता का अर्जन करता है। उद्योगी—सतत कर्मठ पुरुष का हाथ उसे सम्पन्न (समृद्ध) बनाता है।

—वाइ०, नी० व० १०, ४

(७)

रागो य दोसो विय कम्मवीयं । —उत्त० सू० ३२, ७

राग और द्वेष—ये दोनों कर्म के बीज हैं।

× × ×

१ प्रीति सब अपराधों को ढक देती है।

—वाइ० नी० व० १०, १२

(८)

धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ।

—उत्त० सू० १४, २४

जो धर्म का आचरण करता है, उसकी रातें सफल बीतती हैं।

अहम्म कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ।

—उत्त० सू० १४, २५

जो अधर्म का आचरण करता है, उसकी रातें निष्फल जाती हैं।

× × ×

सदाचारी का उद्यम जीवन-साधक है और दुष्ट का अर्जन पाप कारक है। —बाइ० नी० व० १०, १६

(९)

न निन्हविज्ज कयाइ वि। —उत्त० सू० १, ११

गलती को न छिपाएँ।

पिट्ठि-मंस न खाइज्जा। —द० सू० ८, ४७

चुगली न करें।

× × ×

जो झूठे होठों से असत्य भाषण द्वारा द्वेष को छिपाता है और जो चुगली करता है वह मूर्ख है। —बाइ० नी० व० १०, १८

(१०)

अप्पं भासिज्ज सुव्वए। —सू० कृ० १, ८, २५

सुव्रती कम बोले।

× × ×

शब्दों की प्रचुरता से—बहुत अधिक बोलने से, दोषों की कमी नहीं रहती अर्थात् अधिक बोलना दोषपूर्ण है और जो व्यक्ति अपने होठों पर नियन्त्रण रखता है, वह बुद्धिमान है। —बाइ० नी० व० १०, १९

अवि हत्थ-पाय छेयाए, अदु वा नद्ध-मंस उक्कंते ।
अवि तेयसाभितावणाणि, तच्छिय खारसिंचणाइ य ।।

— सू० कृ० १, ४, १, २१

जो लोग परस्त्री सेवन करते हैं, उनके हाथ-पैर काट लिये जाते हैं। अथवा उनकी चमड़ी और मांस कतर लिये जाते हैं तथा वे अग्नि द्वारा तपाये जाते हैं। उनके अङ्ग काट कर क्षार द्वारा सिञ्चन किया जाता है।

× × ×

नारी के साथ व्यभिचार करने वाला पुरुष अपनी बुद्धि खो देता है। वह यों स्वयं अपना विनाश करने वाला काम करता है।

—बाइ० नी० व० ६, १७-१८

(६)

सवीरिए पराइणइ अवीरिए पराइज्जइ ।

—भ० सू० ७, ८

पराक्रमी विजय पाता है, अपराक्रमी—आलसी पराजित होता है।

× × ×

जो शिथिल या प्रमादी हाथ से काम करता है, वह दरिद्रता का अर्जन करता है। उद्योगी—सतत कर्मठ पुरुष का हाथ उसे सम्पन्न (समृद्ध) बनाता है। —बाइ०, नी० व० १०, ४

(७)

रागो य दोसो विय कम्मवीयं । —उत्त० सू० ३२, ७

राग और द्वेष—ये दोनों कर्म के बीज हैं।

× × ×

द्वेष से झगड़े पैदा होते हैं और प्रीति सब अपराधों को ढक देती है।

—बाइ० नी० व० १०, १२

(८)

धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ।

—उत्त० सू० १४, २४

जो धर्म का आचरण करता है, उसकी रातें सफल बीतती हैं।

अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ।

—उत्त० सू० १४, २५

जो अधर्म का आचरण करता है, उसकी रातें निष्फल जाती हैं।

× × ×

सदाचारी का उद्यम जीवन-साधक है और दुष्ट का अर्जन पाप साधक है। —बाइ० नी० व० १०, १६

(९)

न निण्हविज्ज कयाइ वि। —उत्त० सू० १, ११

गलती को न छिपाएँ।

पिट्ठि-मंसं न खाइज्जा। —द० सू० ८, [illegible]

चुगली न करे।

× × ×

जो झूठे होंठों से असत्य भाषण द्वारा द्वेष को छिपाता है और जो चुगली करता है, वह मूर्ख है। —बाइ० नी० व० १०, १८

(१०)

अप्पं भासिज्ज सुव्वए। —सू० कृ० १, ८, २५

सुव्रती कम बोले।

× × ×

(११)

सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

—उत्त० सू० ३, १२

ऋजु—सरल व्यक्ति के मन में धर्म टिकता है।

× × ×

(जिनका) हृदय पवित्र है, वे धन्य हैं। वे परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। — बाइ० नी० व० ५, ८

(१२)

माणेण अहमा गई। —उत्त० सू० ६,५५

मान अहंकार से अधम गति प्राप्त होती है।

जेण किर्त्ति सुयं सिग्घं, निस्सेसं चाभिगच्छइ।

—द० सू० ६. २, २

विनय – सत् आचार के द्वारा ही मनुष्य बड़ी जल्दी शास्त्र-ज्ञान तथा कीर्ति-संपादन करता है।

+ + +

जब अहंकार आता है तो उसके साथ तिरस्कार भी आता है। नम्र मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है।

सात्विक पुरुषों की सात्विकता उन्हें विकास का मार्ग दिखाती है और धूर्त मनुष्य अपनी धूर्तता से नष्ट हो जाते हैं।

—बाइ०, नी०, व० ११, २३

(१३)

कम्मी कम्मेहिं किच्चइ। —सू० कृ० १, ६, ४

पापी अपने पाप से नष्ट हो जाता है।

\+ \+ \+

सद्गुणी व्यक्ति की सद्गुणशीलता—भलाई उसका मार्ग-दर्शन करती है। दुर्जन की दुर्जनता उसके पतन का कारण बनती है।

—बाइ०, नी० व० ११, ५

(१४)

अन्धो अन्धं पहं नेन्तो, दूरमद्धाणगच्छइ।
आवज्जे उप्पहं जन्तु, अदु वा पंथाणुगामिए॥

—सू० कृ० १. २, १९

अन्धे को ले जाने वाला अन्धा मार्ग से ही भटकता रहता है या गलत मार्ग पर चला जाता है।

\+ \+ \+

जहाँ अग्रगामी अज्ञानी होता है, वहाँ अनुगामी जन खड्डे में गिर जाते हैं और जहाँ वह विचारशील - ज्ञानी होता है, वहाँ वे सुरक्षित रहते हैं।

—बाइ०, नी० व० ११, १४

(१५)

जह मम ण पियं दुक्ख, जाणिअ एमेव सव्वजीवाण।
न हणइ न हणावेइ अ, सममणइ तेण सो समणो॥

—अनु० सू० १२९

जिस प्रकार मुझको दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार सभी जीवों को दुःख प्रिय नहीं है जो ऐसा जानकर न स्वयं हिंसा करता है, न किसी से हिंसा करवाता है, वह समत्वयोगी ही सच्चा श्रमण है।

\+ \+ \+

दयालु व्यक्ति अपनी आत्मा का हित करता है पर निर्दय व्यक्ति अपनी आत्मा को संकट में डालता है। —बाइ० नी० व० ११, १७

+ + +

सद्गुणी व्यक्ति की सद्गुणशीलता—सचाई उसका मार्ग-दर्शन करती है। दुर्जन की दुर्जनता उसके पतन का कारण बनती है।

—बाइ०, नी० व० ११, ५

(१४)

अधो अधं पहं नेन्तो, दूरमद्धाणगच्छइ।
आवज्जे उप्पहं जन्तू, अदु वा पंथाण् गामिए॥

—सू० कृ० १, ७, १९

अन्धे को ले जाने वाला अन्धा मार्ग मे ही भटकता रहता है या गलत मार्ग पर चला जाता है।

+ + +

जहाँ अग्रगामी अज्ञानी होता है, वहाँ अनुगामी जन गड्ढे मे गिर जाते है और जहाँ वह विचारशील - ज्ञानी होता है, वहाँ वे सुरक्षित रहते हैं।

—बाइ०, नी० व० ११, १४

(१५)

जह मम ण पियं दुक्ख, जाणिअ एमेव सव्वजीवाण।
न हणइ न हणावेइ अ, सममणइ तेण सो समणो॥

—अनु० सू० १२९

जिस प्रकार मुझको दुःख प्रिय नही है, उसी प्रकार सभी जीवों को दुःख प्रिय नही है जो ऐसा जानकर न स्वयं हिंसा करता है, न किसी से हिंसा करवाता है, वह समत्वयोगी ही सच्चा श्रमण है।

+ + +

दयालु व्यक्ति अपनी आत्मा का हित करता है पर निर्दय व्यक्ति अपनी आत्मा को सकट मे डालता है। —बाइ० नी० व० ११, १७

(१६)

विणयं पि जे उवाएण, चोइओ कुप्पइ नरो।
दिव्वं सो सिरिमेज्जंतिं, दंडेण पडिसेहए ॥

—द० सू० ६, २, ४

जो शिक्षा सुनने मात्र से क्रुद्ध हो जाता है, वह आती हुई लक्ष्मी को डंडे मारकर निकालता है।

× × × ×

जो मनुष्य शिक्षा चाहता है, वह ज्ञान चाहता है। जो उससे घृणा करता है, वह पशुवत् है। —बाइ० नी० व० १२, १

(१७)

मिहो कहाहिं न रमे। द० सू० ८, ४२

परस्पर अधिक बातें न करो।

× × × ×

जो मनुष्य वृथा बातों मे लगा रहता है, वह मूर्ख है।

—बाइ० नी० व० १२, ११

(१८)

अणुचिंतिय वियागरे। —सू० कृ० ६, २५

खूब सोच समझकर बोलो।

× × × ×

बिना विचारे बोलना तलवार के घाव जैसा है।

—बाइ० नी० व० १२, १८

× × × ×

अन्तःकरण ही अपनी वेदना जानता है। दूसरा किसी के आनन्द में हाथ नहीं बटा सकता। —बाइ० नी० व० १४, १०

(२०)

सप्पहास विवज्जए। —द० सू० ८, ४२

हँसी-मजाक मत करो।

× × × ×

हँसी का परिणाम शोक है। —बाइ० नी० व० १४, १३

(२१)

अणासवा थूलवया कुसीला,
मिउं पि चंडं पकरंति सीसा।
चित्ताणुया लहुदक्खोववेया,
पसायए ते हु दुरासयं पि॥

—उत्त० सू० १, १३

अविनीत और उद्दण्ड शिष्य शान्त गुरु को भी क्रुद्ध कर देते हैं, तथा विनीत और चतुर शिष्य क्रुद्ध को भी शान्त बना देते हैं।

× × + ×

नम्र उत्तर क्रोध को शान्त करता है। चुभने वाले शब्द क्रोध को बढ़ाते हैं। —बाइ०, नी० व० १५, १

(२२)

उवसमेण हणे कोहं। —द० सू० ८, ३९

उपशम—सम-भाव से क्रोध को जीतना चाहिए।

× × × ×

क्रोधी मनुष्य झगड़ा खड़ा करता है और जो क्रोध करने में मन्द है—क्रोधी नहीं है, वह झगड़ा शान्त करता है।

—बाइ० नी० व० १५, १८

(२३)

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा । —उत्त० सू० १, ९

शिक्षा सुनकर क्रोध न करो ।

× × × ×

जो शिक्षा से इन्कार होता है—शिक्षा नहीं सुनता, वह स्वयं अपनी आत्मा की अवहेलना करता है । जो शिक्षा को सुनता है, उसका ज्ञान विशद बनता है । —बाइ० नी० व० १५, ३२

(२४)

लज्जा-दया-संजम-बंभचेरं, कल्लाणभागिस्स विसोहि-ट्ठाणं ।

—द० सू० ९, १, १३

कल्याण चाहने वाले के लिए लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य विशुद्धि के स्थान हैं ।

× × × ×

सौ चाबुक लगाने से मूर्खपर जो असर होता है, बुद्धिमान् पर जरा सा कहने से ही कहीं अधिक असर होता है।

—बाई० नी० व० १७, १६

(२७)

अणुवीय भासी से निग्गंथे। —आचा० चू० २, १, १५, २

साधक खूब सोच-विचार कर बोलता है।

× × × ×

सुने बिना उत्तर देना मूर्खतापूर्ण व लज्जास्पद है।

—बाइ० नी० व० १८, १३

(२८)

भूओवघाइणि भास, नेव भासिज्ज पन्नवं।

—द० चू० ७, २६

बुद्धिमान् पुरुष प्राणियों के मर्म पर चोट करने वाली या मृत्यु उत्पन्न करने वाली वाणी कदापि न बोले।

\+ \+ \+

जीवन और मृत्यु जीभ पर आश्रित है। जो उसका जैसा उपयोग करेंगे, उन्हें उसका वैसा ही फल प्राप्त होगा। —बाइ० नी० व० १८, २१

(२९)

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ अ,
पयोगकाले य दुही दुरन्ते।

—उत्त० सू० ३२, ३१

असत्य बोलने के पहले, बादमें और बोलते समय इन तीनों अवस्थाओं में असत्यवादी मनुष्य ऐसा दुःख प्राप्त करता है, जिसका अन्त बड़ी कठिनाई से होता है।

\+ \+ \+

असत्य साक्षी देने वाला पुरुष दण्डित हुए बिना नहीं रहता। असत्यवादी नाश की ओर बढ़ता है। —बाइ० नी० व० १९, ९

(३०)

ज्ञानधानानां हि साधूनां किमन्यद् वित्तं स्यात् ?

—सू० कृ० चूर्णि १, १४

जिनके पास ज्ञान का धन है, उन साधु पुरुषों को और क्या धन चाहिये ?

\+ + +

स्वर्ण तथा माणक आदि तो बहुत हैं, पर ज्ञान इन सबसे अधिक मूल्यवान जवाहिर है। —बाइ० नी० व० २०, १५

(३१)

कूड्डतुल्ल कूडमाणेणं। —स्था० सू० ४, ४

झूठा तोल और झूठा नाप महा पाप का कार्य है।

\+ + +

अलग-अलग (लेने के अन्य तथा देने के अन्य) बाँटों से परमात्मा घृणा करते हैं। खोटी तराजू श्रेयस्कर नहीं है। —बाइ० नी० व० २०, २२

(३२)

अपच्चयकारग। —प्र० व्या० २

असत्य वचन अप्रतीति—अविश्वास पैदा करता है।

सच्चे तत्थ करेज्जुपक्कमं। —सू० कृ० १, २, ३, १४

सत्य और सत्य से सम्बद्ध सभी क्रियाओं में यत्नशील रहना चाहिए।

× × ×

असत्य वाणी द्वारा धन का अर्जन करना जीवन की व्यर्थता है। ऐसा करने वाला मृत्यु की ओर अग्रसर होता है।

—बाइ० नी० व० २१, ६

(३३)

जो अपने मुंह और जीभ की सम्हाल रखते हैं, वे अपनी आत्मा को संकट से बचाते हैं। —बाइ० नी० व० २१, २३

(३४)

तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम मा पमायए॥

तुम विशाल समुद्र को लगभग पार कर चुके हो। अब किनारे पर आकर क्यों बैठे हो? उस पार पहुँच जाने की शीघ्रता करो। क्षण भर भी प्रमाद मत करो।

× × ×

सत्पुरुष सात बार गिरता है और उठता रहता है। दुर्जन विपत्ति में आहत होकर अनुचित आचरण में पड़ जाता है।

—बाइ० नी० व० २४, १६

(३५)

विक्खलियं णच्चा न तं उवहसे मुणी। —द० सू० ८, ५०

किसी को लड़खड़ाता या गिरता हुआ देखकर मुनि उसका उपहास न करे।

× × ×

जब तुम्हारा शत्रु गिर पड़े, तुम हर्षित मत बनो। जब वह ठोकर खा जाए, तब तुम्हारे हृदय में प्रसन्नता न हो।

—बाइ० नी० व० २४, १७

(३६)

खंतिं सेविज्ज पंडिए। —उत्त० सू० १, ९

विद्वान् क्षमा का सेवन करे—क्षमाशील बने।

× × ×

जैसे लकड़ी के बिना आग बुझ जाती है, वैसे ही बात बढ़ाने वाले के बिना लड़ाई खतम हो जाती है। —बाइ० नी० व० २६, २०

(३७)

सकम्मुणा विप्परियासुवेइ । —सू० कृ० ७, १, ११

मनुष्य अपने कर्मों से नष्ट हो जाता है ।

× × ×

जो दूसरों के लिए खड्डा खोदता है, वह स्वयं उसमें गिरता है, जो पत्थर लुढ़काता है, वह (पत्थर) उसी को आकर लगता है ।

—वाइ०, नी० व० २६, २७

(३८)

अप्पणो त्थवणा परस्स निंदा । —प्र० व्या० ७

अपनी स्तवना—बड़ाई और दूसरे की निन्दा मत करो ।

× × ×

दूसरा मनुष्य तुम्हारी स्तवना करता है, यह ठीक है, पर तुम स्वयं अपने मुंह से ऐसा मत करो । —वाइ०, नी० व० २७, २

(३९)

सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे । —सू० कृ० १, २, २, ११

प्रतिष्ठा या प्रशंसा का शल्य—कांटा बड़ा सूक्ष्म है । उसे निकालना बहुत कठिन है ।

× × ×

जैसे आग की भट्टी चाँदी और सोने को गला डालती है, प्रशंसा भी मनुष्य के लिए वैसी ही है । प्रशंसा भी मनुष्य को नष्ट कर देती है ।

—वाइ० नी० व० २७, २१

(४०)

माणो विणयनासणो । —द० सू० ८, ३८

मान, आत्म-गुणों के विकास को रोक देता है ।

× × ×

अहंकार मनुष्य को नीचे गिराता है और विनय-सम्मान प्राप्त कराता है ।

—वाइ० नी० व० २९, २३

चौथा अनुशीलन

जैनागम और संस्कृत वाङ्मय

शहद से ढके हुए विष के घड़े की तरह (जो व्यक्ति होते हैं, वे व्यक्ति त्याज्य हैं।)

० विषकुम्भं पयोमुखम्। —पं० त०

जिसके ऊपर दूध है और भीतर विष भरा है। (जिसके हृदय में कपट है और ऊपर से मधुर वाणी बोलता है, ऐसे मित्र को दूध से ढके हुए विषके घड़े की तरह त्याग देना चाहिए)

(५)

सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं। —उत्त० सू० ३२, ४

ऐसे सहायक की इच्छा करनी चाहिए, जो कुशल और मेधावी हो।

० चकास्ति योग्येन हि योग्य-संगमः। —नै० च०

योग्य व्यक्ति को योग्य व्यक्ति का संसर्ग ही शोभित होता है।

(६)

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ। —द० चू० १, १६

मेरे लिए यह दुःख चिरकाल तक नहीं होगा।

० कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

—मे० दू० पूर्व मेघ ४६

किसे अत्यन्त सुख ही प्राप्त रहा और कौन एकान्ततः दुःखी ही रहा। पहिये की तरह सुखदुःखात्मक स्थितियां ऊपर-नीचे आती जाती रहती है।

(७)

(८)

कण-कुंडगं चइत्ताणं विट्ठं भुंजइ सूयरे। —उत्त० सू० १, ५

सूअर अन्न का परित्याग कर विष्ठा का सेवन करता है।

• किं क्वापि विट्शूकर-कुक्कुराणां
विष्ठां विनेष्टं किमपीह दृष्टम्। —प० म०

क्या विट्—दुश्चरित्र, सूअर और कुत्ते को विष्ठा के सिवाय कहीं और भी कुछ अच्छा लगता है।

(९)

भीओ भूएहिं घिप्पइ। —प्र० व्या० २, २

भयभीत को सभी भूत तंग करते हैं?

• किमिव हि शक्तिहर ससाध्वसानाम्। —शि० व०

जिनमें भय व्याप जाता है, वे शक्तिहीन हो जाते हैं।

(१०)

मेरुव्व वाएण अकंपमाणो। —उत्त० सू० २१, १९

वायु से नहीं हिलने वाले मेरु पर्वत की तरह धीर पुरुष कष्टों से विचलित नहीं होते।

० अल्पस्य हेतार्वहु हातुमिच्छन्
विचारमूढ़: प्रतिभासि मे त्वम् । — र० म० २, ४७

थोड़े से के लिए बहुत खो देने की इच्छा करने वाले तुम मुझे विचारमूढ —सोचने-समझने की कुछ भी क्षमता नहीं रखने वाले प्रतीत होते हो।

(२०)

तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा ।

—द० सू० ९, २, १२

उन (गुरुजनों के प्रति विनयशील अन्तेवासियों) की शिक्षा जल से सींचे गये पौधों की तरह उत्तरोत्तर विकास पाती जाती है।

० गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम् ।

—भा० वि०

गुरुजनों की कठोर वाणी से तिरस्कृत (अन्तेवासी) जन बड़प्पन पाते हैं अर्थात् आगे चलकर वे उन्नति करते हैं।

(२१)

सरिसो होइ बालाए । — उत्त० सू० २, २४

अज्ञानी व्यक्ति ही अज्ञानी जैसा व्यवहार करता है।

० जायन्ते वत मूढानां संवादा अपि तादृशाः । —सुभाषित

मूर्खों की बातचीत भी मूर्खों जैसी ही होती।

(२२)

खुड्डेहिं सह संसग्गि हासं कीडं च वज्जए ।

—उत्त० सू० १, ९

बुद्धिहीनों की संगति, बिना कारण हंसी, स्त्रियों के साथ विवाद, दुर्जनों की सेवा, गधे की सवारी, अशिष्ट वाणी इन छः बातों में मनुष्य हीनता को प्राप्त होता है।

(२३)

नमइ मेहावी। —उत्त० सू० १, ४५

विद्वान नम्र होता है।

० भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैः। —अ० शा० ५, १२

फलों के लग जाने से वृक्ष नम्र हो जाते हैं।

० नमन्ति विबुधा नराः। —सुभाषित

ज्ञानी जन नमनशील होते हैं।

(२४)

वियागरेज्जा समया सुपन्ने। —सू० कृ० १, १४, २२

सुप्राज्ञ—विवेकशील व्यक्ति समय देखकर बोले।

० लोक-स्थिति यदि न वेत्ति यथानुरूपं,
सर्वस्य मूर्खनिकरस्य स चक्रवर्ती। —सुभाषित

जो लोक-स्थिति को सही रूप में नहीं जानता, वह समग्र मूर्ख-समुदाय का सम्राट् है।

(२५)

खेत्तं कालं च विन्नाय। —द० सू० ८, ३५

क्षेत्र और काल को जानकर कार्य में अग्रसर होना चाहिए।

धम्मज्जियं च ववहारं……गरहंतो नाभिगच्छइ।

—उत्त० सू० १,४२

धर्म का यथावत् अनुसरण करता हुआ साधक लोक-व्यवहार को गर्हित नहीं करता अर्थात् जो लोक-व्यवहार में निन्द्य है, वैसा आचरण नहीं करता।

० लोक-व्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञोऽप्यन्यस्तु प्राज्ञोऽप्यवज्ञायत एव
—नी० वा० १७, ६५

सर्वज्ञ को भी लोक-व्यवहार रखना अपेक्षित है। लोक-व्यवहार नहीं जानने वाला विशिष्ट बुद्धिशाली व्यक्ति भी अवज्ञा – तिरस्कार पाता है।

(२६)

गज्जित्ताणामेगे णो वासित्ता। —स्था० सू० ४

कई केवल गरजते है, बरसते नहीं।

० गर्जन्ति न वृथा शूरा, निर्जला इव तोयदाः।
—वा० रा० ६, ६५, ३

निर्जल मेघों की तरह शूरवीर वृथा गर्जन नहीं करते।

(२७)

बालजणो पगब्भइ। —सू० कृ० १, ११, २

मूर्ख डींगें हाँकता है।

० अर्धो घटो घोषमुपैति नूनम्।
—सु० र० भा० २७०, ८७०

आधा भरा हुआ घड़ा छलकता है।

(२८)

० विज्जाचरण पमोक्खं। —सू० कृ० १. १२, ११

ज्ञान और चारित्र मोक्ष के हेतु है।

० ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः। —अ० सू० २०

ज्ञान और क्रिया से मोक्ष प्राप्त होता है।

(२९)

अत्ताणं न समुक्कसे। —द० सू० ८, ३०

अपना उत्कर्ष न बताए —अपने मुँह से अपनी प्रशस्ति न करे।

हंस जिस प्रकार अपनी जिह्वा की अम्लता-शक्ति द्वारा जल मिश्रित दूध मे से जल को छोड़कर दूध को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार सुशिष्य दुर्गुणों को छोड़कर सद्गुणों को ग्रहण करता है।

० हंसो हि क्षीरमादत्त, तन्मिश्रा वर्जयत्यपः। —र॰ म॰

हंस दूध को ग्रहण कर लेता है, उसमें मिले हुए पानी को छोड़ देता है।

(३३)

जं कल्लं कायव्वं, णरेण अज्जेव तं वरं काउं।
मच्चू अकलुणहिअओ, न हु दीसइ आवयंतो वि॥

—वृ॰ क॰ भा॰ ४६७४

जो कल करना है, उसे आज ही कर लेना अच्छा है। मृत्यु अत्यन्त निर्दय है, वह कब आजाए, मालूम नहीं।[1]

० श्वः कार्यमद्यकुर्वीत, पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
नहि प्रतीक्षते मृत्युः, कृतमस्य न वा कृतम्॥

—सुभाषित

कल किया जानेवाला कार्य आज ही पूरा करलेना चाहिए। जिसे सायंकाल करना है, उसे प्रातः काल ही करलेना चाहिए। क्योंकि मौत नही देखती कि इसका (अमुक व्यक्ति का) कार्य पूरा हुआ या नहीं।

(३४)

सव्वा कला धम्मकला जिणाइ। —गो॰ कु॰ १६

धर्म-कला सब कलाओं से उत्कृष्ट है।

---

१. अज्जजेव किच्चं आकप्पं, को जञ्ञा मरणं सुवे।

—सु॰ पि॰ जातक २२, ५३८, १२०,

आज का काम आज ही करलेना चाहिए, कौन जाने कल मृत्यु ही आजावे।

० सकलाऽपि कला कलावतां, विकला धर्मकलां विना खलु ।
सकले नयने वृथा यथा, तनुभाजां हि कनीनिकां विना ।

मु० र०, भा०, ६७३, २३७.

कलाकारों की सब कला धर्म-कला के बिना विकल—अपूर्ण है, । जैसे कनीनिका (ज्योतिर्मय तारे) के बिना सम्पूर्ण नेत्र व्यर्थ होता है ।

(३५)

चएज्ज देहं न हु धम्मसासणं ।

द०, मू० चूलिका १, १७,

देह को त्याग देना चाहिए पर धर्म-शासन को नहीं छोडना चाहिए ।

० इहासने शुष्यतु मे शरीरं,
त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु ।
अप्राप्य बोधिं बहु काल दुर्लभां,
नैवासनात कायमिदं चलिस्यति ॥ —बु० च०,

इस आसन पर चाहे मेरा शरीर सूख जाय, चाहे चमडी, हड्डियां और मांस विलुप्त हो जाय, तब तक मेरा देह आसन से विचलित नहीं होगा, जब तक मैं उस ज्ञान को प्राप्त न करलूं जो बहुत समय से दुर्लभ बना है ।

(३६)

रुहिरयस्स वत्थस्स रुहिरेण
चेव पक्खालिज्जमाणस्स णत्थि सोही । —ज्ञाता० सू १,५,

रक्त से सना वस्त्र रक्त से धोने से शुद्ध नहीं होता ।

० रक्तेन रंजितं वस्त्रं नहि रक्तेनशुद्धयति । —सुभाषित

रक्त से सना वस्त्र रक्त से धोने से शुद्ध नहीं होता ।

(३७)

० वहुयं मा य आलवे —उत्त० सू० १, १०,

वहुत नहीं बोलना चाहिए।

वहुभाषिणो न श्रद्धधातिलोके —कादम्वरो,

ज्यादा बोलने वाले का विश्वास नहीं होता।

(३८)

एक्का मणुस्स जाई —आचा० नि० १ ६,

समग्र मानव जाति एक है।

० मनुष्य जाति रेकैव —सुभापित

मारी मनुष्य जाति एक ही है।

★

पाँचवां अनुशीलन

जैनागम और हिन्दी काव्य

हिन्दी भारत की राष्ट्र भाषा है। जहाँ भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से उसका संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश आदि मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं से सम्बन्ध है, वहाँ वर्ण्य वस्तु-विषय भी उन प्राक्तन भाषाओं में ग्रथित और विकसित जीवन-सत्यों से पर्याप्त रूप में आप्लावित हैं। वे आदर्श, जो भारतीय संस्कृति में सदैव पूजित रहे, जिनसे मानवता शोभित होती है, हिन्दी में भी अवतरित हुए।

जैन आगम, त्रिवेणी रूप भारतीय संस्कृति की एक धारा — आर्हती परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसकी विचार-सम्पदा चारित्रिक जागृति से विशेष रूप से जुड़ी है।

यहाँ संकलित आगम-वचन और हिन्दी-पद्यांश वैचारिक दृष्टि से एक समानान्तर रेखा पर अंकित हैं, बारीकी से देखने पर यह स्पष्ट रूप में आभासित होगा।

(१)

खमासूरा अरिहंता । —स्था० सू० ४, ४,

अर्हत् क्षमा-वीर (अद्भुत क्षमाशील) होते हैं ।

क्षमा शोभती उस भुजग को जिसके पासके गरल हो ।
उसको क्या जो दन्तहीन, विषरहित विनीत सरल हो ॥

—दिनकर, कुरु०

(२)

जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ ।

—आचा० सू० १, २, ६

धर्म तुच्छ व्यक्ति के लिए भी वैसा ही है, जैसा वह उच्च व्यक्ति के लिए है ।

धर्म के सम्बन्ध में नृप और रंक समान है ।

—मैथिली शरण गुप्त रं० भ०

(३)

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसइ जाइविसेस कोवि ।

—उत्त० सू० १२, ३७

तप की विशेषता स्पष्ट दिखाई देती है, जाति की कुछ भी विशेषता दिखाई नहीं देती ।

सद् गुणो पर है लगी मुद्रा न जाति-विशेष की ।

—मैथिलीशरण गुप्त रं० भ०

(४)

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ ।

—आचा० सू० ३, ४, १२४

जो एक को जानता है, वह सबको जानता है ।

एके साधे सब सधे । —कबीर

(५)

जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढइ ।

—उत्त० सू० ८, १

जैसे जैसे प्राप्ति होती हैं, वैसे वैसे लोभ होता है । प्राप्ति से लोभ बढ़ जाता है ।

जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई । —रा०

(६)

चइज्ज देहं नहु धम्म सासणं । —द० चूलिका १,

देह भले ही चला जाए पर धर्म-शासन छूटने न पाए ।

रघुकुल रीति सदा चलि आई ।
प्राण जाय पर वचन न जाई ।। —रा०

दुःख शोक जो जब आ पड़े, सो धैर्य पूर्वक सब सहो ।
होगी सफलता क्यों नहीं, कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहो ।।

— ज०

(७)

वाया वीरियं कुसीलाणं । —सू० कृ० १, ८, १

जिनका चरित ऊँचा नहीं होता, वे केवल बातें बनाते हैं । (कुछ नहीं ।)

पंडित सोइ जो गाल बजावा । —रा०

(८)

विसकुंभे महुपिहाणे । —स्था० सू०

मधु से ढके हुए विष के घड़े की तरह ।

विष रस भरा कनक घट जैसे । —रा

(९)

अच्छंदा जे न भुंजति, न से चाइत्ति वुच्चइ । —द० सू०

जो अवशता (असमर्थता) के कारण भोग्य पदार्थों का सेवन नहीं वह त्यागी नहीं कहा जाता ।

नारि मुई घर सपत नामी। मूड मुड़ाय भये संन्यासी।

—रा० च०

(१०)

सरिसो होइ बालाणं। —उत्त० सू० २, २४

मूर्ख के बराबर मूर्ख ही हो सकता है।

खंति सेविज्ज पंडिए। —उत्त० सू० १, ९

पण्डित—ज्ञानी, शान्ति—क्षमाशीलता का सेवन करे।

किन्तु विरोधी पर भी अपने करुणा करो न क्रोध करो।

—मैथिलीशरण गुप्त

(११)

अहम्मिया च सुत्ता सेया। —बृ० भा० ६३९३

अधार्मिक सोये हुए ही अच्छे हैं।

कुंभकरण सम सोवत नीके। —रा० च०

(१२)

विहारचरिया इसिणं पसत्था। —द० चू० २,५

ऋषियों—साधुओं के लिए विहार—पर्यटन करते रहना ही प्रशस्त है।

साधु तो रमता भला, दाग न लागे कोय। —कबीर

(१३)

बालजणो पगब्भइ। —सू० कृ० ११, ११, २०

मूर्ख व्यक्ति केवल डींगें हाकता है।

अधजल गगरी छलकत जाय। —सुभाषित

(१४)

नेव से अन्ते नेव से दूरे। —आचा० सू० १, ५, १

न वह समीप है, न वह दूर है।

धोबी का कुत्ता घर का न घाट का। —सूक्ति

न इधर के रहे न उधर के रहे,
न खुदा ही मिला न विसाले-सनम ।

—अकबर

(१५)

मुहुत्तदुक्खा हु हवंति कंटया, अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ।

—द० सू० ६, ३, ७

लोहमय कांटे अल्प-काल तक दुःखदायी होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जासकते हैं. किन्तु दुर्वचन रुपी कांटे सहजतया नहीं निकाले जासकने वाले, वैर की परंपरा को बढ़ाने वाले और महा भयानक होते हैं ।

वाण से भी वचन का होता भयंकर घाव है ।[1]

—मैथिलीशरण गुप्त, रं० भं०

(१६)

कडुयफलविवागा । —उव० सू०

अशुभ कर्मों का फल-विपाक कड़ुआ होता है ।

पर याद रक्खो पाप का होता नहीं है फल भला ।

—मैथिलीशरण गुप्त, ज० व०

(१७)

अहो दुक्खो हु संसारो । —उत्त० सू० १९, १६

संसार दुःखमय है ।

---

१. पुरिसस्स हि जातस्स, कुठारी जायते मुखे ।
या य छिन्दति अत्तानं, वालो दुब्भासितं भणं ।।

—सु० नि० ३. ३६, १

जन्म के साथ ही मनुष्य के मुंह में कुल्हाड़ी—जीभ पैदा होती है । अज्ञानी दुर्वचन बोलकर उससे अपने आपको ही काट डालता है ।

बस, दुःख मे ही दुःख होता, घाव मे ही घाव है।

—मैथिलीशरण गुप्त, ज० व०

(१८)

अत्तसमे मनिज्ज छप्पिकाए। —द० सू० १०, ५

छओ कायो के प्राणियो को आत्म-सम— अपने समान समझो।

निज दुःख से ही दूसरो के दुःख का अनुभव करो।

—मैथिलीशरण गुप्त, ज० व०

(१९)

अविस्सासो य भूयाणं तम्हा मोसं विवज्जए।

—द० सू० ६, ११

असत्य का वर्जन—त्याग करना चाहिए। उससे प्राणियो मे अविश्वास उत्पन्न होता है।

नहि असत्य सम पातक दूजा। —रा० च०

(२०)

कत्तारमेव अणुजाइ कम्म। —उत्त० सू० १३, २३

कर्म अपने कर्ता का ही अनुगमन करता है।

कर्म-प्रधान विश्व करि राखा।

जो जस करइ सो तस फल चाखा॥ —रा० च०

(२१)

जीवेणं सयं कडं दुक्खं पवेदेइ। —भ० सू०

जीव अपना किया हुआ दुःख भोगता है।

कौन काहु दुःख सुख कर दाता।

निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥ —रा० च०

(२२)

अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया।

—सू० कृ० १, ४, १०

अहिंसा का स्वरूप आत्मसात् करो।

परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा। — रा० च०

(२३)

तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम मा पमायए॥

—उत्त० सू० १०, ३४

तुम संसाररूपी महासमुद्र को लगभग पार कर गये हो, फिर किनारे पर पहुँच कर क्यों रुक गये। अन्तिम छोर को लांघ जाने की शीघ्रता करो। क्षण मात्र भी प्रमाद मत करो।

आकर इतना पास फिरे, वह सच्चा शूर नहीं है।
थक कर बैठ गये क्यों भाई, मंजिल दूर नहीं है॥

— दिनकर

(२४)

असंविभागी न हु तस्स मुक्खो। — द० सू० ९, २, २३

जो (साधक) संविभाग (पारस्परिक बटवारा) नहीं करता, वह मोक्ष का अधिकारी नहीं होता।

शान्ति कहां तब तक जब तक, सुख-भाग न नर का सम हो।
नहीं किसी को बहुत अधिक हो, नहीं किसी को कम हो॥ —दिनकर

(२५)

जह तुब्भे तह अम्हे, तुम्हे वि होहिहा जहा अम्हे।
अप्पा हेट्ठि पडंतं, पंडुयपत्तं किसलयाणं॥

—अनु० सू०

पृथ्वी पर गिरता हुआ पीला पत्ता अपने साथी हरे पत्ते से कहता है—'आज जैसे तुम हो, एक दिन मैं भी ऐसा ही था। आज जैसा मै हूँ, एक दिन तुम्हें भी ऐसा ही होना है।'

पान पडतो देखने हगी जो कोंपलिया,
मो बीती तो बीतसी धीरे बापडिया। —आचार्य भिक्षु

(२६)

आहसु विज्जाचरणं पमोक्ख। —सू० कृ० १, १२, ११

ज्ञान और आचार का समन्वय मोक्ष का साधन कहा गया है।

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की॥

—प्रसाद, कामा०

(२७)

के अहमंसि? —आचा० सू० १, १, १

मैं कौन हूँ?

अब भी एक प्रश्न था कोऽहं, कहूँ कहूँ जब तक दासोऽहं।
तन्मयता कह उठी सोऽहं, ...

—मैथिलीशरण गुप्त, यशो०

(२८)

ज इच्छसि अप्पणतो, ज ण इच्छसि अप्पणतो।
त इच्छ परस्स वि मा, एत्तियगं जिणसासणं॥

—बृ० भा० ४५८४

जो अपने लिए चाहता है, वह दूसरो के लिए भी चाह।
जो अपने लिए नही चाहता, वह दूसरो के लिए भी मत चाह। यही जिन शासन का सार है।

चाह मत गैरो के हित, जिसको कि तू चाहता नही। —सुभाषित

(२९)

ज कल्ले कायव्व, णरेण अज्जेव वरं काउं।
मच्चु अकलुणहिअओ, नहु दीसई आवयतो वि॥

—बृ० भा० ४६७४

मनुष्य को जो सत्कर्म कल करना है, अच्छा हो वह उसे आज ही कर ले। मृत्यु बड़ी निर्दय है। उसके आने का कोई भरोसा नहीं है।

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में परलय होयगी, बहुरि करेगा कब॥ —कबीर

(३०)

माणुस्सं खु सुदुल्लहं। —उत्त० सू० २०, ११

मनुष्य जीवन बड़ा दुर्लभ है।

नर समान नहिं कवनिउ देही।
सुर नर मुनि सब याचत तेही॥ — रा० च०

(३१)

जावज्जीवमविस्सामो। —उत्त० सू० १९, ३६

जीवन भर अविश्रान्त रूप से साधक अपनी धर्म-साधना में जुटा रहे।

है धर्म पहुँचना नहीं, धर्म तो जीवन भर चलने में है।
फैलाकर पथ पर स्निग्ध ज्योति, दीपक समान जलने में है॥
—दिनकर, रश्मिरथी

(३२)

जम्म-दुक्खं जरा-दुक्खं रोगाणि मरणाणि य।
—उत्त० सू० १९, १५

संसार में जन्म, बुढ़ापा, रोग और मृत्यु आदि दुःख ही दुःख है।

रोग शोक सन्ताप जरा, सब आते ही रहते हैं।
पृथ्वी के प्राणी विषाद, नित पाते ही रहते हैं॥ · दिनकर उर्व०

(३३)

के अहमंसि के वा इओ चुओ इह पेच्चा वा भविस्सामि।
—आचा० सू० १, १, १

मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, यहाँ से कहाँ जाऊँगा, क्या हूँगा।

हम हैं कौन, कहाँ से आये और कहाँ जावेंगे। —दिनकर उर्व०

(३४)

जहा बाहिं तहा अन्तो जहा अंतो तहा बाहिं।—आचा० सू० ९, २, ५

जैसा बाहर हो, वैसा भीतर रहे। जैसा भीतर हो, वैसा बाहर रहे।

बाहर भीतर एक से, होने मन्न पवित्र। —सुभाषित

(३५)

मुणी मोण ममादाय, धूणे कम्मसरीरगं। आचा० सू० १, २, ५

मुनि मौन का अवलम्बन कर अपने कर्म क्षीण करता है।

वाणी का वर्चस्व रजत है, किन्तु मौन कंचन है। —दिनकर उर्व०

(३६)

न काम-भोगा समयं उवेंति। —उत्त० सू० ३२, १०१

सांसारिक विषय भोगने से शान्त नहीं होते।

भोगने से कब घटी है, भोग रूपी राग।
और बढ़ती है निरन्तर, इन्धनों से आग॥ —मैथिलीशरण गुप्त, ज० व०

(३७)

अत्तहियं खु दुहेण लब्भई। —सू० कृ० १, २, ३०

आत्म-हित बड़ी कठिनाई से सध पाता है।

पुण्य-पद मिलता न कोई, आत्म-दान बिना किये।

—मैथिलीशरण गुप्त, र० भं०

(३८)

मुहमंगलीए उदराणुगिद्धे। —सू० कृ० १, ७, २५

चाटुकार केवल पेट पालने की लिप्सा लिये रहते हैं।

चाटुकारों में न होता, लेश भी प्रभु-भक्ति का।

—मैथिलीशरण गुप्त, र० भं०

(३९)

अणुचिन्तिय वियागरे। सू० कृ० १, ९, २५

अनुचिन्तन कर—सोच समझकर बोलना चाहिए।

प्रथम सोच-विचार कर, जो बात कहता है नहीं।
वह विना लज्जित हुए, संसार में रहता नहीं॥

—मैथिलीशरण गुप्त

(४०)

अट्ट-दुहट्ट वसट्टे। —वि० सू०

आर्त्त, दुःखार्त, वशार्त (इन्द्रियों के वश हुआ)।

(आर्त्तता से सन्ताप बढ़ता है। आर्त्त, दुःखार्त्त वशार्त्त उसी के परिचायक हैं।

मारता है बस मनुज को मानसिक सन्ताप ही।

—मैथिलीशरण गुप्त, रं० भं०

(४१)

नो हव्वाए नो पाराए। —आ० चा० १, ०, २

दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम। —सूक्ति

(४२)

दुरणुचरो मग्गो वीराणं। —आचा सू० १, ४, ४

वीरों का मार्ग दुरनुचर—कठिनाई से अनुसरण करने योग्य है।

कठिन यह संयम का पथ है, अटकता जहाँ मनोरथ है।

—मैथिलीशरण गुप्त,

(४३)

समसुहदुक्ख सहेय जे स भिक्खू। —द० सू० १०, ११

जो सुख-दुःख को समता से सहता है, वही वस्तुतः भिक्षु है।

'सु' कहो या 'दुः' 'ख' तो शून्य है, यह है मेरा कहना।
तुम सुख और दुःख दोनों के, ऊपर उठकर रहना॥

—मैथिलीशरण गुप्त, ज० भा०

(४४)

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ ।

—उत्त० सू० ९, ३५

आत्मा से ही युद्ध करो, दूसरे से युद्ध करने से तुम्हें क्या ?

बाहर से भी बढ़ विपक्षी, अपने ही भीतर हैं ।

उन पर वही विजय पाते, जो आत्म-निरीक्षक नर हैं ॥

—मैथिलीशरण गुप्त, ज० भ०

(४५)

एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ।

—उत्त० सू० ९, ३४

एक आत्मा को ही जीतना चाहिए । आत्मजय परम जय है ।

अपना मन है जिसके हाथ, जीवन-जय है उनके साथ ।

—मैथिलीशरण गुप्त,

(४६)

परिणामे बंधो परिणामे मोक्खो ।

परिणाम से ही बन्ध होता है और परिणाम से ही मोक्ष होता है ।

भाई ! इसे न जाओ भूल, मन ही बन्ध मोक्ष का मूल ।

—मैथिलीशरण गुप्त, हिसू०

(४७)

छन्दिय साहम्मियाण भुंजे । —द० सू० १०, ९

धर्म के आदर्शों पर चलने वाले—साधर्मियों में बाँट कर खाए ।

प्रभु का प्रसाद सब पाते हैं, पर सन्त बाँटकर खाते हैं ।

—मैथिलीशरण गुप्त, का० क०

(४८)

न हणे नोवघायए । —द० सू० ६, १०

न स्वयं किसी का वध करे, न दूसरे से वध करवाए।

अवश्य हिंसा अति निन्द्य कर्म है। —प्रि० प्र०

(४९)

तवका जत्थ न विज्जई, मइ जत्थ न गाहिया।

—आचा० सू० १, ५, ६

जहाँ तर्क के लिए कोइ स्थान नहीं है, बुद्धि जिसमें अवगाहन नहीं कर सकती (ऐसा वह सत्य है)।

अरे 'सत्य' यह एक शब्द, तू कितना गहन हुआ है।
मेधा के क्रीड़ा-पंजर का, पाला हुआ सुआ है॥
सब बातों में खोज तुम्हारी, रट-सी लगी हुई है।
किन्तु स्पर्श से तर्क-करो कि, होता छुई मुई है॥ —प्रसाद

(५०)

सयं सयं पसंसन्ता गरहन्ता परं वयं। —सू० कृ० १, २, २३

(जागतिक सृष्टि आदि के सम्बन्ध में) अपनी अपनी बातों—मान्यताओं की प्रशंसा करते हैं, दूसरों की गर्हा निन्दा करते हैं।

बन जाता सिद्धान्त प्रथम, फिर पुष्टि हुआ करती है।
बुद्धि लेकर ऋण बस उसको, सदा भरा करती है॥

—प्रसाद, कामा०

(५१)

णिम्ममो णिरहंकारो, णिस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वएभूसु, तसेसु थावरेसु य॥
लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो णिदापसंसासु, तहा माणावमाणओ॥
गारवेसु कसायेसु, दंड-सल्ल-भएसु य।
णियत्तो हास-सोगाओ, अणियाणो अबंधणो॥

अणिस्सिओ इह लोए, परलोए अणिस्सिओ ।
वासी चदणकप्पो य, असणे अणसणे तहा ।।

—उत्त० मू० १६, ६०, ६१, ६२, ६३

जिसके अभिमान न हो, गर्व रहित हो, समभावी हो लाभ अलाभ मान अपमान मे समभाव रखने वाला हो। कषाय, दण्ड, शल्य, भय, हास्य, शोक मे निवृत्त हो व चन्दन से पूजने वाले और बसूले से छीलने वाले पर समता सरसाने वाला हो वही सच्चा साधक होता है।

किसी से जिन्हे नही है मोह, नही है जिन्हे किसी से द्रोह।
रहे जो राग-रोष-भय-हीन, वही है स्थितप्रज्ञ स्वाधीन ।।
इन्द्रियाँ है जिनके वश मे, विरत हो विषयो के रस मे।
दुःख सुख जिनके एक समान, उन्ही को स्थितप्रज्ञ तू जान ।।
हानि से भरे नही जो आह, लाभ की जिन्हे नही कुछ चाह।
और जो है अलिप्त..............., वही है स्थितप्रज्ञ योगी ।।

—मैथिलीशरण गुप्त, ज० भा०

(५२)

धम्मे हरए बंभे संति तित्थे, अणाविले अत्त पसण्णलेस्से ।
जहिं सिण्हाओ विमलो विसुद्धो, सुसीईभूओ पजहामि दोस ।

— उत्त० मू० १२, ४६

धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है, आत्मा की प्रसन्न लेश्या – उज्ज्वल परिणाम मेरा निर्मल घाट है, जहाँ स्नान कर मैं मल-रहित और विशुद्ध हो दोषो का त्याग करता हूं।

आत्मा-नदी शील-शुचि नीर, सत्य-तीर्थ शम दम दो तीर।
दयावीचियो बीच नहाव, मन का भी तो मैल बहाव ।।

—मैथिलीशरण गुप्त ज० भा०

(५३)

नवणीयतुल्लहियया साहू । —व्यव० भा० ७, १६५

साधुजनों का हृदय नवनीत (मक्खन के समान कोमल होता है।

सन्त हृदय नवनीत समाना । —रामचरित मानस

(५४)

एक्का मणुस्सजाई । —आचा० नि० १६

समग्र मानवजाति एक है।

ऊँच नीच का भेद न माने वही श्रेष्ठ ज्ञानी है। – दिनकर र० र०

(५५)

धम्ममहिंसा सम नत्थि । —भक्त० ६१

अहिंसा के समान दूसरा धर्म नहीं है।

दयाधर्म जिसमें हो सबसे वही पूज्यवाणी है। —दिनकर र० र०

(५६)

माणुसजाई वहुविचित्ता। – मरण० ६४

मानवजाति वहुत विचित्र है।

अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे । —१, ३, २

यह मनुष्य अनेक चित्त है अर्थात् अनेकानेक कामनाओं के कारण मनुष्य का मन विखरा हुआ रहता है।

यह तो नर ही है एक साथ जो शीतल और ज्वलित भी है।
मन्दिर में साधक-व्रती पुष्पवन में कन्दर्प ललित भी है।
योगी अनन्त चिन्मग्न, अरुप को रूपाश्रित करने वाला।
भोगी ज्वलन्त रमणीमुखपर चुंबन अधीर धरने वाला ॥

—दिनकर उर्वशी

(५७)

सुजणो वि होइ लहुओ, दुज्जणसंमेलणाए दोसेण।
माला वि मोल्लगरुया, होदि लहूमडयसंसिट्ठा ॥

—भ० आ०

दुर्जन की सगति करने से सज्जन का भी महत्व गिर जाता है, जैसे कि मूल्यवान माला मुर्दे पर डाल देने से निक्कमी—अपवित्र हो जाती है।

बद की सोहबत में मत बैठो, उसका है अन्जाम बुरा।
बद न बने पर बद कहलाये, बद अच्छा, बदनाम बुरा॥

(५८)

नाण-किरियाहि मोक्खो। —विशेषा० भा० गा० ३

ज्ञान एवं क्रिया (आचार) से ही मुक्ति होती है।

हय नाणं कियाहीणं हया अन्नाणओ किया।
—आव० नि० १०१

आचार-हीन ज्ञान नष्ट हो जाता है और ज्ञान-हीन आचार।

क्रिया हीन चिन्तन के अनुचर केवल ज्ञान प्रलापी। —दिनकर, भूदान

(५९)

नत्थि छुहाए सरिसया वेयणा। —ओघ नि० भा० २९०

संसार में भूख के समान कोई वेदना नहीं है।

कायर कर देता है बहुधा, वीरों को भी पामर पेट।
—मैथिलीशरण गुप्त, गुरुकुल

(६०)

अट्ठं परिहायती बहुं, अहिगरणं न करेज्ज पंडिए।
— आचा० १, २, २, १९

बुद्धिमान को कभी किसी से कलह-झगड़ा नहीं करना चाहिए। क्योंकि कलह से बहुत बड़ी हानि होती है।

ते पंडिया जे विरया विरोहे। — सी० कु० ५

पंडित वही है जो झगड़े से दूर रहते है।

सुन्द और उपसुन्द का है सब से अनुरोध।
सावधान, देखो कभी उठे न बन्धु-विरोध॥
—मैथिलीशरण गुप्त, तिला०

(६१)

पन्ना समिक्खए धम्मं। —उत्त० सू० ४, ११

बुद्धि से धर्म को परखो।

जं सेयं तं समायरे। —उत्त० सू० ३, ५

जो श्रेय (हितकर) हो, उसी का आचरण करना चाहिए।

त्यागो मुनिमत भी प्रतिकूल, करते बड़े बड़ी ही भूल।
करे परीक्षा गुणि-गण-गूढ़, मरे रूढ़ि पर, मत पर मूढ़॥

— गुप्तजी, हिन्दु०

(६२)

सित्थेण दोणपागं, कवि च एक्काए गाहाए। —अनु० ११६

एक कण से द्रोण भर पाक की, और एक गाथा से कवि की परीक्षा हो जाती है।

मिनखां आही पारखा, बोल्या के लाद्या —सुभाषित

अक्लमन्द को इशारा ही काफी है। —लोकोक्ति

—※—

छठा अनुशीलन

जैनागम और महात्मा गांधी
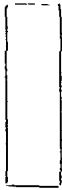
महात्मा गांधी का व्यक्तित्व अनेक विशेषताओं का संगम था उन्होंने राष्ट्र-चेतना का मंत्र फूंका। भारत की स्वाधीनता के लिए वे जीवन भर जूझे और अन्ततः सफल भी हुए। अहिंसा में उनकी आस्था थी। अतएव राष्ट्रीय आन्दोलन में उसे वे पृष्ठ-भूमि मानते रहे। उस पर उन्होंने सदा जोर दिया। मुख्यतः अहिंसा के माध्यम से लड़े गये और जीते गये स्वाधीनता-संग्राम का संसार के इतिहास में यह पहला उदाहरण है।

महात्मा गांधी में स्वाधीनता संग्राम के सेनानी होने के साथ-साथ अन्तर्मुखी वृत्ति भी थी। वे आत्म-चिन्तन, आत्म-मन्थन और मनन के अभ्यासी थे। अतएव कर्म में राजनीति की भूमिका पर प्रतिष्ठित होते हुए भी वे जीवन के शाश्वत सत्यों पर भी सोचते थे, कहते थे, जीवन में उनका प्रयोग भी करते थे। सम्प्रदाय-विशेष के साथ उन्हें आसक्ति नहीं थी। सभी धर्मों के प्रति उनका आदर था। जो रुचता, उसे लेते; चाहे किसी भी धर्म का हो।

महात्मा गांधी अनेक स्थानों पर अहिंसा, सत्य, अनुशासन, विनय, आत्म-शुद्धि आदि पर जो कहते रहे हैं, उसमें उनकी पैनी सूझ के दर्शन होते हैं। उनके विचार जैन आगमों के कितने निकट हैं, प्रस्तुत प्रकरण इसका परिचायक है।

(१)

उवसमसारं खलु सामण्णं। —वृ० सू० १, ३५

कषाय की उपशान्ति ही साधुता है।

० गुस्से को पीना इन्सानियत है। —आ० वि० भाग २ पृष्ठ ६

(२)

मण वय-काय-सुसंवुडे जे स भिक्खु। —द० सू० १०, ७

जो मन, वचन और शरीर की क्रिया को वश मे रख सकता है, वही साधु है।

० सब बाते मनुष्य के मन, वचन और कर्म की शुद्धि पर निर्भर है।

—आ० वि० भाग २ पृष्ठ ६

(३)

सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था। —उव० सू०

भगवान् ने सब जगह निष्काम कर्म की ही सराहना की है।

० हमारे सोचने की बात तो कर्म ही है कर्म फल नही।

—आ० वि० भाग २ पृष्ठ ११

(४)

छंद निरोहेण उवेइ मोक्खं। —उत्त० सू० ४, ८

अपने विचारो को रोकने वाला ही मोक्ष प्राप्त करता है।

० उन्नति का मूल मन्त्र है आत्म-समर्पण।—आ० वि० भाग २ पृष्ठ १२

(५)

बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति। —सू० कृ० १, १२, १६

ज्ञानी ही ससार का—जन्म-मरण का अन्त करने वाले होते हैं।

० उन्नति का अर्थ है आत्म-ज्ञान। —आ० वि० भाग २ पृष्ठ १२

(६)

जयणट्ठाए महामुणी। —उत्त० सू० २५, १७

जीवन में तितिक्षा—सहनशीलता—क्षमाशीलता का महत्व जानते हुए श्रमण धर्म का चिंतन करे।

० धीरज का फल मीठा होता है, धीरज रखें। —गांधीजी

(१६)

जहावाई तथाकारी। —स्था० सू० ७

साधक कहने-करने में एक जैसा हो।

० जहां वाचा और मन में एकता नहीं, वहां वाचा केवल मिथ्यात्व है, दम्भ है, शब्द-जाल है। — आ० वि० भाग २ पृष्ठ ३६

(१७)

वाया वीरियं कुसीलाणं। — सू० कृ० १, ४, ११, ७

दु:शील केवल वचन-वीर—गप्पी होते है।

० ज्यादा भाषणों से, भाषण करने वालों से डरना, उनसे दूर रहना अच्छा है। — गांधीजी

(१८)

रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंत-सोक्खं समुवेइ मोक्खं। —उ० सू० ३२,२

राग और द्वेष का क्षय ही मोक्ष—आत्मस्वरूप-साक्षात्कार, जो एकान्त रूप से सुखमय है, को पाने का प्रमुख उपाय है।

० राग, द्वेष आदि का सर्वांश में क्षय हो जाना ही आत्म-दर्शन का एक मात्र उपाय है। —गांधीजी

(१९)

सच्चं खु भगवं। —[illegible]० व्या० ७

सत्य ही भगवान है।

(२०)

बंधप्पमोक्खो तुज्झअज्झत्थेव ।—आचा० सू० १, ५, २

बंधन और मुक्ति तेरे ही हाथ है।

० कोई बाहरी ताकत इन्सान को नीचे नहीं गिरा सकती। इन्सान को गिराने वाला इन्सान खुद ही है। —आ० वि० भाग० १ पृष्ठ १६

(२१)

जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भइ।

—उत्त० सू० ५, ७

मैं जनमत के साथ हूँ, ऐसा तो अज्ञानी ही कहा करते है।

० बहुमत के इशारे पर चलना दासता है, भले ही उसके निर्णय कैसे ही क्यों न हों। —आ० वि० भाग १ पृष्ठ २१

(२२)

न निन्हविज्ज कयाइवि। —उत्त० सू० १, ११

अपने दोष कभी नहीं छिपाने चाहिए।

० अंधा वह नहीं, जिसकी आँखें फूट गई है। अंधा वह है, जो अपने दोष ढकता है। —आ० वि०

(२३)

अप्पं भासिज्ज सुव्वए। —सू० कृ० ८, २५

सुव्रती कम बोले।

अणुवीइ भासी से णिग्गंथे। —आचा० सू० २, ३, १५

सोच-विचार कर बोलने वाला साधु है।

० संकटों से बचने के लिए भी सत्य के पुजारी का अल्पभाषी होना जरूरी है। कम बोलने वाला मनुष्य कभी बिना सोचे-समझे नहीं बोलेगा। वह अपने प्रत्येक शब्द को तोलकर बोलेगा। —मो० मा० पृष्ठ ३२

(२४)

अत्तकडे दुक्खे। —भ० सू० १७, १

दुःख स्वयं का ही किया हुआ है।

० आदमी अपने आप अपने सुख-दुःख का कारण है।

—वा० आ० पृष्ठ १०७

(२५)

अत्तहियं खु दुहेण लब्भई। —सू० कृ० २, २, ३०

आत्म-हित बहुत कठिनता से सधता है।

० बगैर परिश्रम से यानि बगैर तप के कुछ भी हो नहीं सकता है, तो आत्म-शोध कैसे हो सके। —वा० पृष्ठ ११६

(२६)

अप्पणो य परं नालं कओ अन्नाण सासिउं।

जो अपने आप पर नियन्त्रण नहीं कर सकता है, वह दूसरों पर क्या नियन्त्रण करेगा।

० जो मनुष्य अपने पर काबू नहीं रख सकता, वह दूसरों पर कभी सच्चा काबू नहीं रख सकता। —वा० पृष्ठ ४१

(२७)

जीवो पमायबहुलो। —उत्त० सू० १०, १५

जीव— प्राणी बहुधा प्रमाद—गल्ती कर बैठने वाला है।

० मनुष्य स्वभाव से गल्ती करने वाला प्राणी है।— मो० मा० पृष्ठ ४६

(२८)

बीयं तं न समायरे। द० सू० ८, ३१

गल्ती को दूसरी बार मत करो।

० गल्ती करना, भयंकर गल्ती करना भी मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। परन्तु वह स्वाभाविक तभी है, जब उस गल्ती को सुधारने और उसे दुबारा न करने का हमारा दृढ़ संकल्प हो। यदि किये हुए संकल्प का पूर्णरूप से पालन किया जाय तो गल्ती को दुनियां भूल जायेगी। —मो० मा० पृष्ठ २८

(२९)

तक्का जत्थ न विज्जई, मइ जत्थ न गाहिया ।

—आचा० सू० १, ५, ६

सत्य में तर्क नहीं चलता । बुद्धि वहां तक पहुंच नहीं पाती ।

सड्ढी आणाए मेहावी ।—आचा० सू० १, ३, ४

मेधावी सत्य के प्रति श्रद्धाशील बने ।

• कुछ ऐसे विषय भी होते है, जिनमे हमारी बुद्धि हमे बहुत दूर तक नही ले जा सकती और हमे उनसे सम्बन्ध रखने वाली बातो को श्रद्धा से स्वीकार कर लेना पड़ता है । उस स्थिति मे श्रद्धा बुद्धि का विरोध नही करती, परन्तु उससे ऊँची उठ जाती है । श्रद्धा एक प्रकार की छठी इन्द्रिय है । वह ऐसे विषयों मे काम करती है, जो बुद्धि की सीमा से बाहर होते है ।

—मो० मा० पृष्ठ ४६

(३०)

अदक्खु व दक्खुवाहियं सद्दहसु ।

—सू० कृ० १, २, ३, ११

नही देखने वाले देखने वालों की बात पर विश्वास करें ।

• श्रद्धा के अभाव मे यह विश्व एक क्षण मे नष्ट हो जायेगा । सच्ची श्रद्धा का अर्थ है, ऐसे लोगो के ज्ञानपूर्ण अनुभव का उपयोग करना, जिनके बारे मे हमारा यह विश्वास है कि उन्होने प्रार्थना और तपस्या से शुद्ध और पवित्र बना हुआ जीवन बिताया है । इसलिए ऐसे पैगम्बरो या अवतारों मे, जो अति प्राचीनकाल मे हो गये है, विश्वास रखने का अर्थ निरर्थक अंध-विश्वास नही है । परन्तु एक गहनतम आध्यात्मिक अभिलाषा की तृप्ति है ।

—मो० मा० पृष्ठ ४७

० श्रद्धा ऐसा सुकुमार फूल नहीं है, जो हलके से हलके तूफानी मौसम में भी कुम्हला जाय। श्रद्धा तो हिमालय पर्वत के समान है, जो कभी डिग ही नहीं सकती। कैसा भी भयंकर तूफान हिमालय पर्वत को बुनियाद से हिला नहीं सकता। मैं चाहता हूँ कि आप में से प्रत्येक ईश्वर और धर्म के विषय में वैसी ही अचल श्रद्धा अपने भीतर बढावें।

—मो० मा० पृष्ठ ४६

(३२)

दुक्खेण पुट्ठे धुवमाइएज्जा। —सू० कृ० १, ७, २६

दुःख आने पर धैर्य धारण करो।

० मेरा धर्म मुझे सिखाता है कि जब कभी जीवन में ऐसा संकट आवे, जिसे हम दूर न कर सकें, तब हमें उपवास और प्रार्थना करनी चाहिए। —मो० मा० पृष्ठ ५१

(३३)

अकारिणोऽत्थ वज्झंति मुच्चंति कारगो जणो।

—उत्त० सू० ६, ३०

यह राज्य-सत्ता चीज ही ऐसी है, जहां करने वाले बच निकलते हैं, और नहीं करने वाले फंस जाते है।

० सत्ता हाथ में आने से मनुष्य अंधे और बहरे दोनों बन जाते हैं। अपनी आंखों के सामने होने वाली बातों को वे देख नहीं सकते और अपने कानों पर आक्रमण करने वाली बातों को वे सुन नहीं सकते।

— मो० मा० पृष्ठ १२१

(३४)

दुरणुचरो मग्गो वीराणं। —आचा० सू० १, ४, ४

वीरों के मार्ग पर चलना कठिन है।

असिधारागमणं चेव। —उत्त० सू० १६, ३७

संयम-तलवार की धार पर चलना है।

• सुधार के मार्ग पर गुलाब के फूल नही बिछे रहते, बल्कि कांटे बिछे रहते है और उस मार्ग पर उसे सावधानी से चलना पड़ता है। वह कांटो वाले मार्ग पर धीरे-धीरे लंगड़ाते हुए ही चल सकता है, कभी कूदने या छलांग मारने की हिम्मत नही कर सकता। —मो० मा० पृष्ठ १२३

(३५)

कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के। —आचा० सू० १, २, ६

कुशल व्यक्ति न तो बंधा हुआ है और न मुक्त है।

• ऊपर से लादी हुई सत्ता को सदा पुलिस और सेना की सहायता की गरज होती है, जबकि भीतर से पैदा होने वाली सत्ता के लिए पुलिस और सेना का बहुत थोडा या जरा भी उपयोग नही होता।

—मो० मा० पृष्ठ १२२

(३६)

अप्पाणमेव जुज्झाहि। —उत्त० सू० ९, ३५

बाहर के शत्रुओ से न उलझकर अपने भीतर के शत्रुओ से जूझो।

• बाहरी भयो से मुक्ति पा लेने पर भी भीतर के दुश्मनो—काम, क्रोध, मोह और लोभ से छुटकारा पाना और भी कठिन हो जाता है।

—गा० सू० पृष्ठ १२

(३७)

अत्थि सत्थ परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं।

—आचा० सू० १, ३, ४

दुनियां मे शस्त्र तो एक से एक बढकर है, पर अशस्त्र—शस्त्र का परिपन्थी (विरोधी) अहिंसा से बढ़कर नही है।

• अहिंसा एक प्रचण्ड शस्त्र है। उसमे परम पुरुषार्थ है।

—गा० सू० पृष्ठ २१

(३८)

वाया वीरियं कुसीलाणं। —सू० कृ० १, ४, १, १७

कुशील केवल वचन-वीर—डींग हांकने वाले होते है।

○ जबान से ईश्वर, खुदा,' सत श्री अकाल' कुछ भी नाम लो वह झूठा है; अगर दिल में वह नाम नहीं है। —गां० सू० पृष्ठ २३

(३९)

सव्वा कला धम्म-कला जिणाई। —प्रकीर्णक

सब कलाओं में धर्म कला ही उत्कृष्ट है।

○ जो कला आत्मा को आत्म-दर्शन करने की शिक्षा नहीं देती, वह कला ही नहीं है। —गां० सू० पृष्ठ २९

(४०)

कडं कडित्ति भासेज्जा। —उत्त० सू० १, ११

अपनी की हुई गल्ती को स्वीकार कर लेना चाहिए।

○ गल्ती मान लेना झाड़ू लगाने का-सा काम है।

—गां० सू० पृष्ठ ३८

(४१)

धम्म-विऊ उज्जु। —आचा० सू० १, ३, १

धर्म को जानने वाला सरल होता है।

○ सत्य का पालन करने वालों के लिए विनम्र होना आवश्यक होता है। क्योंकि सत्य का पालन करने की इच्छा रखने वाला अहंकारी नहीं हो सकता। —गां० सू० पृष्ठ ६२

(४२)

जत्थ एगे विसीयंति। —सू० कृ० १, ३, २, १

कायर व्यक्ति साधुत्व ग्रहण कर पछताता है।

○ दुर्बल मन का मनुष्य संयम-पालन नहीं कर पाता है।

—गां० सू० पृष्ठ ६१

सातवां अनुशीलन

जैनागम और वैदेशिक विचारक

० जबान से ईश्वर, खुदा,' सत श्री अकाल' कुछ भी नाम लो वह झूठा है; अगर दिल में वह नाम नहीं है। —गां० सू० पृष्ठ २३

(३९)

सव्वा कला धम्म-कला जिणाई। —प्रकीर्णक

सब कलाओं में धर्म कला ही उत्कृष्ट है।

० जो कला आत्मा को आत्म-दर्शन करने की शिक्षा नहीं देती, वह कला ही नहीं है। —गां० सू० पृष्ठ २९

(४०)

कडं कडित्ति भासेज्जा। —उत्त० सू० १, ११

अपनी की हुई गल्ती को स्वीकार कर लेना चाहिए।

० गल्ती मान लेना झाड़ू लगाने का-सा काम है।

—गां० सू० पृष्ठ ३८

(४१)

धम्म-विऊ उज्जु। —आचा० सू० १, ३, १

धर्म को जानने वाला सरल होता है।

० सत्य का पालन करने वालों के लिए विनम्र होना आवश्यक होता है। क्योंकि सत्य का पालन करने की इच्छा रखने वाला अहंकारी नहीं हो सकता। —गां० सू० पृष्ठ ६२

(४२)

जत्थ एगे विसीयंति। —सू० कृ० १, ३, २, १

कायर व्यक्ति साधुत्व ग्रहण कर पछताता है।

० दुर्बल मन का मनुष्य संयम-पालन नहीं कर पाता है।

—गां० सू० पृष्ठ ६१

—✻—

(१)

सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

—उत्त० सू० ३, १२

सरल व्यक्ति के अन्तरतम मे धर्म टिकता है।

- वह मनुष्य ईश्वर के दर्शन कर सकता है, जिसका अन्त:करण निर्मल और पवित्र है। —स्वेट मार्डेन, सू० मा० पृष्ठ २

(२)

अन्नाणी कि काही। —द० सू० ४, १०

अज्ञानी क्या कर सकता है ?

- अज्ञान मन की रात्रि है। लेकिन यह रात्रि, जिसमे न तो चाँद है और न तारे। —कन्फ्यूशस, सू० मा० पृष्ठ ६

(३)

जावन्तऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।

—उत्त० सू० ६, १

जो भी विद्याहीन—तत्व को नही जानने वाले पुरुष हैं, वे सब दु:खो के पात्र है।

- अशिक्षित रहने से पैदा न होना अच्छा है, क्योंकि अज्ञान विपत्तियो का मूल है। —प्लेटो, सू० मा० पृष्ठ ७

(४)

अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो।

—द० चू० २, ३

अनुस्रोत—चालू प्रवाह मे बहना संसार है, प्रतिस्रोत—चालू प्रवाह के प्रतिकूल जाना उसका किनारा है।

- अवगुण का मार्ग चिकना ही नही, अपितु ढालू है।

—सेनेका, सू० सा० पृष्ठ २७

(५)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।

—उत्त० सू० १४, २४

जो जो रातें चली जाती हैं वे वापिस लौटकर नहीं आतीं।

○ ऐसा न सोचो कि अवसर तुम्हारा द्वार दुवारा खटखटायेगा।

—शैम्फोर्ट, सू० सा० पृष्ठ २८

(६)

संतोसिणो नो पकरेंति पावं।

—सू० कृ० १, १२, १५

संतोषी व्यक्ति पाप-कर्म नहीं करते।

लोहाओ दुहओ भयं। —उत्त० सू० ६, ५४

लोभी को दुःख ही दुःख है।

○ असन्तुष्ट मनुष्य संसार में अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहते।

—शेक्सपियर सू० सा० पृष्ठ ३०

(७)

वालजणो पगब्भई। —सू० कृ० २१, ३२

अज्ञानी व्यक्ति ही अभिमान करता है।

○ मनुष्य जितना छोटा होता है, उसका अहंकार उतना ही बड़ा होता है।

—वाल्टेयर, सू० सा० पृष्ठ ३३

(८)

अन्नमन्न वितिगिच्छाए........न करेइ पावं कम्मं
किं तत्थ मुणि कारणं सिया ?

—आचा० सू० १, ३, ३, ११६

दूसरे के भय से जो पाप-कर्म नहीं करता वह साधुत्व थोड़ा ही है। पाप का बचाव तो आत्मा के भय से करना चाहिए।

○ दुष्ट स्वभाव के मनुष्य भय से आज्ञा-पालन करते हैं और अच्छे स्वभाव वाले प्रेम से।

—अरस्तू, सू० सा० पृष्ठ ४०

(९)

नाणी नो परिदेवए। —उत्त० सू० २, १३

ज्ञानी दुःख नहीं करता।

• मनुष्य आपत्तियों का लक्ष्य बनने के लिये ही जन्मा है, अतएव बुद्धिमान् मनुष्य को आपत्ति से घबराना नही चाहिए।

—कन्फ्यूशस, सू० सा० पृष्ठ ५६

(१०)

चरेज्जत्तगवेसए। —उत्त० सू० २, १७

अपने आप की गवेषणा करते चलो।

• जब आपके अपने द्वार की सीढियाँ मैली है तो अपने पड़ौसी की छत पर पडी हुई गन्दगी का उलाहना मत दीजिए।

—कन्फ्यूशस, सू० सा० पृष्ठ ५६

(११)

से केयण अरिहए पूरित्तए। —आचा० सू० १, ३, २

जो अपनी सारी इच्छाएँ पूरी करना चाहता है, वह चलनी को पानी से भरना चाहता है।

• इच्छा की प्यास कभी नही बुझती न पूर्ण रूप से सन्तुष्ट होती है।

—सिसरो, सू० सा० पृष्ठ ६२

(१२)

कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि। —उत्त० सू० ४, ३

बिना भोगे किये हुए कर्मों मे छुटकारा नही होता।

• किये हुए कर्म को मिटाया नही जा सकता।

—शेक्सपियर, स० सा० पृष्ठ १०२

(१३)

कडुयफलविवागा। —उव० सू०

क्रोध के परिणाम बहुत कडुए होते है।

• जब क्रोध आए तो उसके परिणाम पर विचार करो।

—कन्फ्यूशस, सू० सा० पृष्ठ १३५

(१४)

खण जाणाहि पंडिए। —आचा० सू० १, २, १

विद्वान् समय का मूल्य समझे।

(२२)

जो वि पगासो वहुसो, गुणिओ पच्चक्खओ न उवलद्धो।
जच्चंधस्स व चंदो, फुडो वि संतो तहा स खलु॥

—बृह० भा० ११६१

शास्त्र का बार-बार अध्ययन कर लेने पर भी यदि उसके अर्थ की साक्षात् स्पष्ट अनुभूति न हुई हो, तो वह अध्ययन वैसा ही अप्रत्यक्ष रहता है जैसा कि जन्मांध के समक्ष चंद्रमा प्रकाशमान होते हुए भी अप्रत्यक्ष ही रहता है।

• वह इतना विद्वान था कि नौ भाषाओं में 'घोड़ा' शब्द जानता था, लेकिन इतना अनजान कि सवारी के लिए 'गाय' खरीद लाया। —वरले

(२३)

हिय-मिय-अफरुसवाई, अणुवीइ भासि वाइओविणओ।

अज्ञानी अनेक बार मरता है। वहाँ ज्ञानी का सफल मरण एक बार ही होता है।

◦ कायर मृत्यु के पूर्व अनेक बार मरते है, किन्तु वीर एक ही बार मरते है। —शेक्सपियर, सू० सा० पृष्ठ ४६२

(२०)

अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणुसासिउं।

—सू० कृ० १, २, १७

जो अपने आप पर नियन्त्रण नही कर सकता, वह दूसरो पर क्या नियन्त्रण करेगा?

◦ जो अपने ऊपर शासन कर सकते है वही दूसरों पर करते है।

—हैजलिट, सू० सा० पृष्ठ ५०८

(२१)

अप्पा सो परमप्पा। —प्रश्न सू०

आत्मा ही परमात्मा है।

◦ जैन धर्म प्रत्येक सामान्य आत्मा की साधना द्वारा परमात्मा बनने का मार्ग बतलाता है।[1] —जार्ज बर्नाडशा

---

१ एक बार हिन्दुस्तान टाइम्स के संचालक, महात्मा गांधी के सुपुत्र श्री देवदास गाधी जब इंगलैंड गये तब वहाँ के सुप्रसिद्ध विचारक व लेखक जार्ज बर्नाडशा से मिले। बातचीत के प्रसंग मे श्री गाधी ने बर्नाडशा से पूछा कि—आपको कौनसा धर्म सबसे अच्छा लगता है? तब बर्नाडशा ने कहा कि—जैनधर्म। जब श्री देवदास गांधी ने इसका कारण पूछा तो श्री बर्नाडशा ने उत्तर दिया कि—जैनधर्म मे आत्मा को सम्पूर्णत. शुद्ध करके परमात्मा बनाने का विधान है। अन्य धर्मों मे परमात्मा केवल एक को ही माना है। उनके सिद्धान्तानुसार परमात्मा अन्य कोई नही बन सकता, वह चाहे कितनी ही तपस्या क्यों न करे। —कल्याण (मानवता अंक, पृष्ठ ४०६)

(२२)

जो वि पगासो वहुसो, गुणिओ पच्चक्खओ न उवलद्धो।
जच्चंधस्स व चंदो, फुडो वि संतो तहा स खलु॥
—वृह० भा० ११६६

शास्त्र का बार-बार अध्ययन कर लेने पर भी यदि उसके अर्थ की साक्षात् स्पष्ट अनुभूति न हुई हो, तो वह अध्ययन वैसा ही अप्रत्यक्ष रहता है, जैसा कि जन्मांध के समक्ष चंद्रमा प्रकाशमान होते हुए भी अप्रत्यक्ष ही रहता है।

वह इतना विद्वान था कि नौ भाषाओं में 'घोड़ा' शब्द जानता था, लेकिन इतना अनजान कि सवारी के लिए 'गाय' खरीद लाया। —बरले

(२३)

हिअ-मिअ-अफरुसवाई, अणुवीइ भासि वाइओविणओ।
—दशवै० नि० ३२२

हित, मित, मृदु और विचार-पूर्वक बोलना वाणी का विनय है।

सत्य का अर्थ यह नहीं कि जिसके आंखें नहीं हैं उसे अंधा कहकर अपमानित करो। सच्चे अर्थों में सत्य वही है जिसमें स्नेह, ममता, मिठास हो इसलिए अंधा असत्य है और सत्य है सूरदासजी। —बेकन

(२४)

अणभिक्कंतं च वयं संपेहाए, खणं जाणाहि पंडिए।
—आचा० १, २, १

हे आत्मविद् साधक ! जो बीत गया सो बीत गया। शेष रहे जीवन को ही लक्ष्य में रखते हुए प्राप्त अवसर को परख ! समय का मूल्य समझ !

ऐसा हो गया होता या वैसा हो गया होता; इससे परेशान न हो।
—मार्कट्वेन

परिशिष्ट

'सहु सयाने एकमत' में प्रयुक्त ग्रन्थ तथा संकेत

ग्रन्थ	सकेत	विषय
अथर्व वेद	अ० वे०	वैदिक
अनुयोगद्वार सूत्र	अनु० सू०	जैन
अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका	अ० व्य० द्वा०	जैन
अभिज्ञानशाकुन्तल	अ० शा०	संस्कृत काव्य
अमोलक-सूक्ति रत्नाकर	अ० सू० र०	विचार-साहित्य
अष्टावक्र गीता	अष्टा० गी०	वैदिक
आचारांग निर्युक्ति	आचा० नि०	जैन
आचारांग सूत्र	आचा० सू०	जैन
आज के विचार	आ० वि०	गांधी साहित्य
इतिवृत्तक	इ० वृ०	बौद्ध
ईशावास्योपनिषद्	ईशा०	वैदिक
उत्तराध्ययन सूत्र	उत्त० सू०	जैन
उत्तराध्ययन चूर्णी	उत्त० चू०	जैन
उर्वशी	उर्व०	हिन्दीकाव्य
उववाइ सूत्र	उव० सू०	जैन
ऋग्वेद	ऋ० वे०	वैदिक
ऐतरेय ब्राह्मण	ऐ० ब्रा०	वैदिक
ओघनिर्युक्ति भाष्य	ओघ० नि० भा०	जैन
ओल्ड टेस्टामेन्ट	ओ० टे०	ईसाई मत
कठोपनिषद्	कठो०	वैदिक
कल्याण (संत वाणी अंक)	कल्या०	मासिक पत्र

ग्रन्थ	संकेत	विषय
कथा सरित्सागर	क० स०	संस्कृत साहित्य
कादम्बरी	काद०	संस्कृत साहित्य
काबा-कर्बला	का० क०	हिन्दी काव्य
कामायनी	कामा	,,
कुरान	कु०	इस्लाम
कुरुक्षेत्र	कुरु०	हिन्दी काव्य
खुद्दक पाठ	खु० पा०	बौद्ध
गरुड़ पुराण	ग० पु०	वैदिक
गांधीजी की सूक्तियां	गां० सू०	गांधी साहित्य
गीता	गी०	वैदिक
गीता और कुरान	गी० कु०	विचार-साहित्य
गीता-रहस्य	गी० र०	वैदिक
गौतम कुलक	गौ० कु०	जैन
चर्पट-मंजरी	च० मं०	संस्कृत काव्य
चरक-संहिता	च० स०	आयुर्वेद
चाणक्य सूत्र	चा० सू०	नीति
चुल्लनिद्देस पालि	चु० नि०	बौद्ध
छान्दोग्योपनिषद्	छान्दोग्यो०	वैदिक
जपुजी	जपु०	सिक्ख मत
जयद्रथ वध	ज० व०	हिन्दी काव्य
जय भारत	ज० भा०	,,
जातक अट्ठ कथा	जा० अ०	बौद्ध
जातक सुत्त	जा० सु०	,,
जैन धर्म	जै० ध०	जैन
तिलोत्तमा	तिलो०	काव्य

ग्रन्थ	संकेत	विषय
थेरगाथा	थे० गा०	बौद्ध
थेरी गाथा	थेरी० गा०	,,
दशवैकालिक सूत्र	द० सू०	जैन
दशवैकालिक चूर्णि	द० चू०	,,
दशवैकालिक निर्युक्ति	द० स० नि०	जैन
दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र	द० श्रु०	,,
दिव्यावदान	दिव्या०	बौद्ध
दीघ निकाय	दी० नि०	,,
धम्म पद	ध० म०	,,
नन्दी सूत्र	न० सू०	जैन
निशीथ चूर्णी	नि० चू०	जैन
निशीथ भाष्य	नि० भा०	,,
नीति वाक्यामृत	नी० वा०	नीति
नीति शतक	नी० श०	,,
नैषधीय चरित	नै० च०	संस्कृत काव्य
न्याय दर्शन	न्या० द०	वैदिक
पञ्चतन्त्र	प० त०	नीति
पटिसम्भिदा मग्गो	प० म० म०	बौद्ध
पेत वत्थु	पे० व०	,,
पद्म पुराण	प० पु०	वैदिक
पद्मानन्द महाकाव्य	प० म०	संस्कृत काव्य
प्रज्ञापना सूत्र	प्रज्ञा०	जैन
प्रश्न व्याकरण सूत्र	प्र० व्या०	,,
प्रिय प्रवास	प्रि० प्र०	हिन्दी काव्य
बाइबिल	बाइ०	ईसाई मत
बापू	बा०	गाधी साहित्य

ग्रन्थ

बापू के आशीर्वाद

बुद्ध चरित

बोध पाहुड

बोधि वृक्ष की छाया में

बौद्ध दर्शन और भारतीय

बौद्ध धर्म क्या कहता है ?

भक्त प्रत्याखान

भगवती सूत्र

भगवती आराधना

भागवत

भामिनी विलास

मज्झिम निकाय

मनु स्मृति

महानिद्देस पालि

महाभारत

माध्यमिक कारिका

मिलिन्द प्रश्न

मुण्डकोपनिषद

मूर्ख शतक

मेघदूत

मैत्र्युपनिषद्

मोहमुद्गर

ग्रन्थ	संकेत	विषय
योग वाशिष्ठ	यो० वा०	वैदिक
योगशास्त्र	यो० शा०	जैन
योग सार	यो० सा०	वैदिक
यंगइंडिया	यं० इ०	गाँधी साहित्य
रश्मि-रथी	र० र०	हिन्दी काव्य
रग मे भंग	र० भं०	,,
रघुवंश महाकाव्य	र० म०	संस्कृत काव्य
राम चरित मानस	रा० च०	वैदिक
वशिष्ठ स्मृति	व० स्मृ०	,
वाल्मीकि रामायण	वा० रा०	,
विनय पिटक	वि० पि०	बौद्ध
विवेक चूडामणि	वि० चू०	वैदिक
विसुद्धिमग्गो	वि० म०	बौद्ध
विशेषावश्यक भाष्य	वि० भा०	जैन
व्यवहार निर्युक्ति	व्यव० नि०	जैन
वृहत्कल्प सूत्र	वृ० सू०	,,
वृहत्कल्प भाष्य	वृ० क० भा०	,,
वृहदारण्यकोपनिषद्	वृहदा०	वैदिक
वैराग्यशतक	वै० श०	,,
शतपथ ब्राह्मण	श० ब्रा०	,,
शंकर प्रश्नोत्तरी	शं० प्र०	,
शान्त सुधारस	शा० सु०	जैन
शिवराज विजय	शि० वि०	संस्कृत काव्य
शिशुपालवध	शि० व०	,,
श्रमण-सूत्र	श्र० सू०	जैन
संयुत्त निकाय	सं० नि०	बौद्ध

ग्रन्थ	संकेत	विषय
सामवेद	सा० वे०	वैदिक
सिन्दूर-प्रकरण	सि० प्र०	जैन
सुखमणी साहब	सु० म० सा०	सिक्खमत
सुत्त निपात	सु० नि०	बौद्ध
सुत्त पिटक	सु० पि०	,,
सुभाषित रत्न भाण्डागार	सु० र० भा०	संस्कृत काव्य
सूक्ति मुक्तावली	सू० मु०	,,
सूक्ति रत्नावली	सू० र०	,,
सूक्ति सागर	सू० सा०	विचार-साहित्य
सूत्रकृतांग सूत्र	सू० कृ०	जैन
सूत्रकृतांग चूर्णी	सू० चू०	,,
सूत्रकृतांग वृत्ति	सू० कृ० वृ०	,,
स्थानांग सूत्र	स्था० सू०	,,
हजरत मुहम्मद और ईसा	ह० मु० ई०	विचार साहित्य
हितोपदेश	हितो०	नीति
हिन्दू	हि०	हिन्दी काव्य

● ● ●